ज़ाकिर साहब की कहानी

1

वंश और व्यावहारिक जीवन

"सारा भारत मेरा घर है और उसमें रहने वाले मेरा परिवार।" ये किसके मीठे बोल हैं जो हमारे कानों में गूंज रहे हैं? यह बोलने वाला भारत का सपूत और सचमुच 'भारत-रत्न' था। देश का राष्ट्रपति, लेकिन अपने को देश का सेवक समझने वाला। जिसने अंतिम सांस तक देश की सेवा की, संसार उसे जानता है। आज हमसे उन्हीं की जीवन-कथा सुनिये –

अच्छा है कि इस अवसर पर आप कहानी सुनाने वाले के विषय में कुछ जान लें। भगवान की लीला विचित्र है। जिसे चाहे जो बना दे! मेरे सौभाग्य में यह लिखा था कि मुझ तुच्छ को उसने उस महापुरुष एवं कृपालु पिता की बेटी बनने का सम्मान प्रदान किया। स्वर्गवासी के जीवन में तंगी और खुशहाली के दौर आये और वह अध्यापक के पद से लेकर देश के उच्च से उच्च पदों पर रहे और अंत में सर्वोच्च सम्मान का मुकुट उनके सिर पर रखा गया। लेकिन मेरे लिए वह प्रत्येक दौर में, प्रत्येक समय और प्रत्येक क्षण एक स्नेहिल और आदर्श पिता और एक उत्तम मनुष्य रहे। अब आप एक भाग्यवान बेटी से उसके पिता की कहानी सुनिये। उनकी कहानियां तो आपने बहुत सुनी होंगी और भविष्य में भी सुनेंगे ही । इस कहानी में बस यहीं एक नयापन है। बचपन से सदा मैंने उन्हें "मियां" कहकर पुकारा है। इस पुस्तक में जहां कहीं आवश्यक होगा इसी सुपरिचित और प्यारे संबोधन से याद करूंगी।

भारत के प्रसिद्ध प्रदेश उतर प्रदेश में एक जिला है फर्रूखाबाद। यह मुगल बादशाह फर्रूखसियर के युग में बसाया गया था। यह स्थान छपाई की कला के लिए सुविख्यात है। यहां के छपे हुए लिहाफ, अब्रे और पर्दे न केवल देश में लोकप्रिय हैं, बल्कि यहां की छपी हुई वस्तुएं देश के बाहर भी बहुत पसंद की जाती हैं। इसी फर्रूखाबाद में एक कस्बा है कायमगंज। हमारी कहानी यहीं से आरंभ होती है। यही हमारे पूर्वजों का जन्मस्थान है।

यह पठानों की पुरानी बस्ती है। इसका नाम इस प्रकार पड़ा कि प्राचीन काल

में भारत और अफगानिस्तान की सीमा से पठानों के कबीले समय-समय पर जीविका की खोज में भारत आये और उनमें से अधिकांश फर्रूखाबाद के आसपास के क्षेत्रों में बस गये। सरकार ने उनका उत्साह बढ़ाया और उन्हें सहायता भी दी। उन्हें रहने और खेती करने के लिए जमीनें मिलीं, और सेना में नौकरियां भी। इस प्रकार वर्षों से ये लोग यहां रहते रहे हैं। उन्हीं में से एक मुहम्मद खां बंगश हुए हैं। यह बड़े वीर, बुद्धिमान और होनहार व्यक्ति थे। यह फर्रूख का काल था। बादशाह उनसे अति प्रसन्न था। उसने उन्हें पुरस्कार-सम्मान और बड़ी-बड़ी जागीरें दीं, और 'नवाब' की उपाधि से भी सम्मानित किया। दिल्ली में "बंगश का पुल" और "बंगश का कमरा" उन्हीं के नाम से संबद्ध हैं। बंगश के कमरे का वर्णन तो ग़ालिब के विषय में काफी आया है। यह मुहम्मद खां बंगश खास इसी जगह के रहने वाले थे जहां अब कायमगंज बसा हुआ है। कहते हैं इस जगह का नाम उन्होंने अपने पुत्र कायम खां के नाम पर रखा था। कायमगंज सन् 1713 में बसाया गया था। इसके पश्चात भी पठानों के आगमन का क्रम चलता रहा जो यहां आकर बसते रहे। उन्हीं में खैबर और कोहाट से आफरीदी पठान यहां आकर बस गये जिनका वंश अब तक कायमगज में मौजूद है। ये लोग बहुत सुंदर, सुर्ख-सफेद, लंबे-तगड़े और उत्साही तथा प्राण निछावर करने वाले थे। पूर्ववर्ती पठानों की भांति तत्कालीन सरकार ने उन्हें भी बसने के लिए सुविधाएं उपलब्ध करायीं। उन लोगों ने अपने कबीलों के नाम पर कायमगंज में अपने मोहल्ले आबाद किये, जैसे कलां खैल, मवल खैल, कोकी खैल, हसन खैल आदि। 'खैल' पश्तों में 'कबीला' को कहते हैं। उन कबीलों में "शुकल खैल" कबीले में दो भाई थे – हसन खां और हुसैन खां। हुसैन खां हमारे पूर्वज थे। यह मुहम्मद शाह के समय में सन् 1719 में भारत आये। हुसैन खां सुंदर, प्रतिष्ठावान सूफी मनुष्य थे। पढ़ना-पढ़ाना उनका काम था। पठानों में उनके असंख्य अनुयायी थे। वे 'मद्दाख़ुन' की उपाधि से पुकारे जाते थे। मद्दाख़ुन पश्तो भाषा में महान गुरु (अध्यापक) को कहते हैं।

मद्दाख़ुन के पुत्र अहमद हुसैन खां और उनके पुत्र मुहम्मद हुसैन खां हुए। मुहम्मद हुसैन खां के पुत्र गुलाम हुसैन उर्फ झुम्मन खां थे जो मियां के दादा थे। झुम्मन खां बहुत खरे, स्पष्टवक्ता और न्यायप्रिय व्यक्ति थे। न किसी की शक्ति से डरते थे न किसी की धन-दौलत से प्रभावित होते थे। लेकिन थे बड़े दयालु एवं निःस्वार्थ। प्रत्येक व्यक्ति की सहायता के लिए हर समय तैयार रहते थे और दूसरों की सहायता के लिए अपने आपको संकट में डालने से भी नहीं चूकते थे।

झुम्मन खां के दो बेटे थे – फिदा हुसैन खां और अता हुसैन खां। अता हुसैन खां के यहां कोई संतान नहीं हुई। फिदा हुसैन खां मियां के पिता थे। उनका विवाह पठानों के एक प्रतिष्ठित परिवार में नाज़नीन बेगम से हुआ। उनके सात लड़के हुए

– मुजफ्फर हुसैन खां, आबिद हुसैन खां, ज़ाकिर हुसैन खां, ज़ाहिद हुसैन खां, यूसुफ हुसैन खां, जाफर हुसैन खां और महमूद हुसैन खां। मियां अपने भाइयों में तीसरे नंबर पर थे।

मियां का जन्म सन् 1897 में हैदराबाद के मोहल्ले बेगम बाजार में हुआ, जहां उनके पिता यानी हमारे दादा की हवेली थी। कहते हैं सब भाई शक्ल और स्वभाव में अनुपम थे। लेकिन मियां की अवस्था उन तारों के झुरमुट में पूर्णिमा के चंद्रमा जैसी थी।

फिदा हुसैन खां यानी मियां के पिता बड़े मेधावी एवं होनहार व्यक्ति थे। आरंभ से ही पढ़ने-लिखने में रुचि थी। बीस वर्ष की उम्र में जीविका की खोज में हैदराबाद गये। घर से कुछ रुपये ले गये थे। उनसे मुरादाबादी बरतनों की एक दुकान खोल ली और साथ-साथ कानून की परीक्षा की तैयारी भी करते रहे। परीक्षा दी और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। दुकान समाप्त करके वकालत शुरू की। खुदा की करनी कि उनकी वकालत खूब चमकी। बहुत रुपया कमाया। कानून पर कई पुस्तकें लिखीं। बेगम बाजार में एक दोमंजिला मकान बनाया। मतलब यह कि भगवान ने बड़ी अनुकंपा की। धन-सपत्ति के साथ-साथ सुंदर, बुद्धिमान और होनहार संतान भी दीं। एक दो नहीं, पूरे सात बेटे। लेकिन जैसे उनकी फूलती-फलती बगिया को किसी की नजर लग गयी! केवल 16 वर्ष ही वकालत कर पाये थे और अभी 39 वर्ष के ही थे कि तपेदिक के रोगी हो गये और सन् 1907 में परिवार का यह दीप्तिमान दीपक सदा के लिए बुझ गया।

अब मियां की अभागी मां बालकों को लेकर कायमगंज आ गयीं और मियां के चाचा अता हुसैन खां के अभिभावकत्व में रहने लगीं। लेकिन दो वर्ष में उनका भी देहांत हो गया। पिता के देहांत के समय मियां की उम्र केवल 9 वर्ष की थी।

मां ने अपने चार बड़े बेटों – मुजफ्फर हुसैन खां, आबिद हुसैन खां, ज़ाकिर हुसैन खां और ज़ाहिद हुसैन खां को इटावा इस्लामिया हाईस्कूल में दाखिल करा दिया था। उसी समय कायमगंज में प्लेग की ऐसी महामारी फैली कि बस्तियां की बस्तियां नष्ट हो गयीं। इस महामारी से उनका घर भी न बच सका। पूरा घर नष्ट हो गया। महामारी ऐसी भयानक थी कि शव उठाने वाला भी न मिलता था। घर में सर्वप्रथम मियां के छोटे भाई जाफर हुसैन खां, जिनकी उम्र छह वर्ष की थी, उसका शिकार हुए। उनके पश्चात नानी, माता और नौकर सब समाप्त हो गये। और घर में ताला पड़ गया। केवल सबसे छोटे भाई महमूद हुसैन खां बचे थे जिन्हें उनकी चाची अपने घर ले गयी। माता ने बच्चों की परेशानी के विचार से इटावा अपनी बीमारी की सूचना बच्चों को नहीं भेजी थी। अचानक एक हृदयविदारक समाचार मिला। घर पहुंचे तो घर में ताला लगा देखा। मासूम दिलों पर प्रलय छा गयी!

अब भगवान के अतिरिक्त उन अनाथों का कोई सहारा न था और सचमुच उसी ने सहारा दिया। माता-पिता जैसा अनमोल धन छीनकर उनमें दृढ़संकल्प, साहस और संवेदना का भाव उत्पन्न कर दिया जो उनके सभी अभावों का प्रतिफल बन गया। उन्होंने अपनी शिक्षा जारी रखी। उनके लिए अभिभावक नियुक्त हुए जो उनकी संपत्ति तथा शिक्षा के व्यय की व्यवस्था करते थे।

लेकिन परीक्षा अभी समाप्त नहीं हुई थी। शायद यह भगवान की ओर से मियां की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध था। भगवान को जो काम लेने थे वे सरल न थे। वह एक कठिन जीवन था जिसके लिए उनके व्यक्तित्व को अति दृढ़ तथा साहसमय बनाना अभीष्ट था। खुदा-खुदा करके वह समय आया जबकि बड़े भाई मुजफ्फर हुसैन खां अपनी शिक्षा पूर्ण कर हैदराबाद में स्पेशल मजिस्ट्रेट हो गये। लेकिन अल्प प्रकाश के पश्चात फिर अंधकार छा गया। 27 वर्ष की उम्र में उन्हें भी तपेदिक का रोग लग गया और वह भी अंत में बिछोह-वेदना दे गये और अपने पीछे तीन छोटे बच्चे छोड़ गये। उनसे छोटे भाई आबिद हुसैन का विवाह हो गया था। अभी शिक्षा पूर्ण भी न हो पायी थी कि वह भी इस रोग से ग्रस्त होकर अल्लाह को प्यारे हो गये। उस दिवंगत युवक की पत्नी 17 वर्ष की थी। ज़ाहिद हुसैन खां मियां से छोटे थे और भाइयों में सर्वाधिक सुंदर एवं स्वस्थ थे। स्वभाव से गर्म थे। मियां कहते थे कि उनसे अक्सर अनबन हो जाया करती थी। यों भी तले-ऊपर के भाइयों में नहीं बनती। वह अतिशीघ्र नाराज हो जाते थे और मारपीट की नौबत आ जाती थी। मियां शारीरिक रूप से उनसे दुर्बल थे, किंतु बुद्धि, संतोष का अंश प्रकृति से अत्यधिक मिला था। वह कूटनीति से काम लेते और झगड़ा बढ़ने न देते। फिर भी कभी-न-कभी झड़प हो ही जाती। अभी उनकी उम्र 16-17 वर्ष की थी। इतने सबल और कड़ियल जवान थे, फिर भी उस घातक रोग से न बच सके और भरी जवानी में चल बसे।

ज़ाहिद हुसैन खां से छोटे डाक्टर यूसुफ हुसैन खां हैं जिन्होंने फ्रांस में उच्च शिक्षा प्राप्त की। हैदराबाद में उस्मानिया यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर और फिर अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में प्रोवाइस चांसलर रहे हैं और अनेक पुस्तकों के लोकप्रिय लेखक हैं।

यूसुफ हुसैन खां से छोटे जाफर हुसैन खां थे जो अपनी माता के जीवित रहते प्लेग से रोगग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो गये थे। सबसे छोटे भाई डा. महमूद हुसैन खां हैं जिन्होंने जामिआ में शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत जर्मनी से डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की। ढाका विश्वविद्यालय में प्रोफेसर, उपकुलपति और शिक्षामंत्री भी रहे। आजकल कराची विश्वविद्यालय में उपकुलपति हैं। उनके स्वभाव, प्रकृति और शिष्टाचार में मियां की काफी झलक नजर आती है। उन्होंने जामिआ मिल्लिया के नाम से एक शिक्षा-संस्थान कराची में खोला और बराबर शैक्षिक कार्यों में लीन रहते हैं।

2

मियां की प्रारंभिक शिक्षा घर पर हुई। कहते हैं बच्चे की प्रथम पाठशाला मां की गोद होती है। बालक जीवन के प्रारंभिक पाठ इसी पाठशाला में सीखता है। यहीं वे सब बुनियादी आदतें पड़ चुकी होती हैं जिन पर आगे चलकर जीवन का संपूर्ण भवन खड़ा होता है। यह प्रतिदिन का अनुभव तथा वास्तविकता है कि किसी मां की ममता के खजाने में प्यार की कमी नहीं होती। लेकिन यदि उस प्यार में विवेक सम्मिलित न हो तो वह अक्सर लाभ के बजाय हानिप्रद हो जाता है, और दिल से चाहने वाली मां नासमझ मित्र बन जाती है। इसके विपरीत यदि मां में प्रेम के साथ-साथ विवेक से काम लेने का सलीका भी हो तो वह अपने बच्चों में बहुत सहज रूप में वे गुण उत्पन्न कर देती है जो एक अच्छे इंसान के लिए आवश्यक होते हैं। मां बच्चे के लिए एक इतनी प्रभावशाली हस्ती होती है कि उसका प्रत्येक कार्य और प्रत्येक हावभाव बच्चे के मस्तिष्क पर अंकित हो जाता है और वह उसी सांचे में ढल जाता है। मियां की माता बहुत समझदार और सुहृदय महिला थीं। उनकी उदारता तथा दयालुता का वर्णन अब भी कायमगंज की बड़ी-बूढ़ियां, जिन्होंने उन्हें देखा था, करती हैं। मियां भी अक्सर उनका वर्णन प्रेम से करते थे और उनके निधन की घटना का हाल सुनाते थे तो उनका दिल भर आता था, आंखों में आंसू छलक पड़ते थे। वह अपने बच्चों से असीम प्यार करती थीं। उनके सात लड़के थे। कोई उनकी संख्या पूछता तो अक्सर टाल जातीं कि कहीं उनके हीरों को नजर न लग जाये। उनके जीवन में केवल एक बच्चे का देहांत हुआ था जिसकी उम्र छह वर्ष की थी। यह शोक उनके लिए बड़ा कष्टदायक था। यह भी एक सद्स्वभाव की पत्नी पर ईश्वर की विशेष कृपा थी कि उन्हें एक के बाद एक तीन कड़ियल जवानों और जिगर के टुकड़ों को अपनी आंखों से मिट्टी में मिलते नहीं देखना पड़ा।

वह सदैव लोगों का ध्यान रखती थीं। कोई भिखारी उनके द्वार से खाली हाथ न जाता, और देना भी ऐसा कि इस हाथ से दिया, और उस हाथ को खबर तक न हुई। जिससे मिलतीं बहुत आवभगत के साथ मिलतीं, चाहे वह किसी हैसियत का व्यक्ति हो। नौकरों तक से बराबर का व्यवहार करतीं, उनके आराम का खयाल रखतीं। बड़ों का आदर-सम्मान उनकी घुट्टी में पड़ा हुआ था। रखरखाव ऐसा कि अपने-पराये सब खुश होकर उन पर गर्व करते थे। इन सद्गुणों के साथ उन्होंने

अपने बच्चों को जैसी शिक्षा दी, उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं। उनका प्रेम नासमझ स्त्रियों की भांति अंधा नहीं था। वह अपने बच्चों के भविष्य के प्रति उदासीन नहीं थीं। वह जानती थीं कि कायमगंज में उनकी शिक्षा का अच्छा प्रबंध होना कठिन है। इसलिए उन्होंने अपनी आंखों के तारों को आंखों से ओझल करना सहन कर लिया। और जब उन पर प्लेग का आक्रमण हुआ तो बच्चों की चिंता तथा उनकी शिक्षा में बाधा के विचार से अपनी बीमारी की सूचना तक न दी और बच्चों को अंतिम बार देखने का अरमान दिल में लिये इस संसार से प्रस्थान कर गयीं।

सन् 1907 में मियां 9 वर्ष की अवस्था में इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल में दाखिल हुए। सौभाग्य से वहां भी निःस्वार्थ और कृपालु अध्यापक मिले। विशेषकर इटावा स्कूल के प्रधानाध्यापक सैयद अल्ताफ हुसैन और स्कूल के संस्थापक मौलवी बशीरुद्दीन की उन पर बड़ी कृपा थी और वे उनका ध्यान रखते थे। उन दोनों महानुभावों का मियां पर गहरा प्रभाव था। उन्होंने उनसे बहुत कुछ सीखा और वह सदा उनका बड़े आदर-सम्मान के साथ स्मरण करते थे। जब मियां के 71 वें जन्मदिन के अवसर पर देशवासियों की ओर से दो पुस्तकें, एक अंग्रजी में, दूसरी उर्दू, में उन्हें भेंट की गयी थीं, तब उन्होंने जो भाषण दिया था उसमें भी कहा था कि मुझ पर सर्वाधिक एहसान मेरी मां का है और उसके बाद मेरे अध्यापक (स्व.) सैयद अल्ताफ हुसैन का। यदि इन दोनों की शिक्षा-दीक्षा मुझे उपलब्ध न होती तो न जाने क्या होता! एक बार जब मियां अलीगढ़ में उपकुलपति थे, अल्ताफ हुसैन साहब ने अपने एक पुराने छात्र को सिफारिशी पत्र देकर उनके पास भेजा। मियां को ज्ञात हुआ तो अध्यापक के सम्मान की यह दशा थी कि उनके भेजे हुए व्यक्ति का स्वागत करने के लिए वह कार्यालय से बाहर निकल आये। एक स्थान पर सैयद अल्ताफ हुसैन साहब के विषय में उन्होंने स्वयं कहा है – "ऐसा इंसान मुझे आज तक नहीं मिला। उनसे अधिक योग्य अध्यापक मैंने नहीं देखा। मैं सोचता हूं ऐसे इंसान अब क्यों नहीं जन्म लेते? यह संसार ऐसे इंसानों से खाली होता जा रहा है।"

इटावा के विद्यार्थी जीवन के समय की एक घटना मियां स्वयं सुनाते थे जिससे ज्ञात होता है कि उनके अध्यापकों को उनकी शिक्षा की कितनी चिंता रहती थी। एक दिन अल्ताफ हुसैन साहब ने मियां और उनके साथियों के खाने में एक-एक गिलास पानी मिला दिया। भोजन का समय हुआ तो सब साथी एक-एक ग्रास लेकर उठ खड़े हुए, लेकिन मियां ने संतोषपूर्वक भोजन किया और इस प्रकार उठे मानो बड़ा स्वादिष्ट भोजन किया हो! अल्ताफ हुसैन साहब ओट में खड़े होकर यह सब तमाशा देख रहे थे। सामने आये और मियां के सिर पर बड़े स्नेह से हाथ फेरा और कहा – "मैंने तुम लोगों को परखने के लिए जानबूझकर खाने को बदमजा करने के लिए उसमें पानी मिला दिया था। मैं जानना चाहता था कि तुममें से कौन

जिह्वा के स्वाद का त्याग कर सकता है। मेरा विचार था कि ज़ाकिर तुम ही सफल होगे। मुझे प्रसन्नता है कि मेरा विचार बिल्कुल सही निकला। मुझे विश्वास है कि आवश्यकता पड़ने पर तुम बड़े-से-बड़ा बलिदान सहर्ष दे सकोगे।" यह भविष्यवाणी शब्दशः सही निकली।

विद्यालय के जीवन काल में मियां विद्यार्थियों तथा अध्यापकों दोनों में बहुत लोकप्रिय थे। पढ़ने-लिखने में उनकी आरंभ से ही गहरी रुचि थी। वह अपने अध्ययन को केवल पाठ्य-पुस्तकों तक ही सीमित नहीं रखते थे, बल्कि इसके अतिरिक्त अधिकाधिक अध्ययन करते रहते। उन्हें समाचार पढ़ने, सुनने में भी बड़ी रुचि थी। हबीब-उर-रहमान साहब जो इटावा स्कूल के साथी थे, लिखते हैं – "वह पायनियर अखबार खरीदने प्रतिदिन इटावा स्टेशन जाते। आगे वह होते और पीछे मैं। स्टेशन पर अखबार उतरते ही ज़ाकिर साहब उसे प्राप्त करते, और फिर वह और मैं लगभग दौड़ते-दौड़ते स्कूल के छात्रावास में वापस आते। वहां विद्यार्थी प्रतीक्षा में रहते। हमारे वापस आते ही वे चारों ओर घेरा बना लेते। ज़ाकिर साहब उन्हें खबरों का न केवल अनुवाद करके सुनाते बल्कि उन पर टिप्पणी भी करते।"

वह छात्रावास के नियमों का बहुत पालन करते थे। नमाज़ बड़ी पाबंदी से पढ़ते थे। कभी नमाज़ छोड़ने के कारण उन्हें दंड नहीं मिला। उस समय इटावा स्कूल में यह नियम था कि जो लड़का नमाज न पढ़ता उसे दंड के रूप में खेलों में भाग लेने की अनुमति न दी जाती, या फिर खाना बंद कर दिया जाता। इस प्रकार एक बार नमाज़ न पढ़ने के कारण छात्रों का खाना बंद कर दिया गया। लड़कों ने स्ट्राइक कर दी। मियां के न्यायप्रिय हृदय ने समर्थन किया कि नमाज़ का छोड़ना बुरा है, लेकिन उन पर खाना बंद करने का दंड बिल्कुल अन्याय है, क्योंकि खाने के पैसे लड़के दे चुके हैं। वह यद्यपि स्ट्राइक में सम्मिलित न थे, लेकिन उन्होंने प्रबंधकों के सामने लड़कों के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये और अपनी सहानुभूति प्रकट की। यह बात तर्कसंगत एवं ठोस थी, इसलिए उन्हें अपने निर्णय पर पुनर्विचार करना पड़ा और उस समय यह तरीका स्थायी रूप से बंद कर दिया गया।

प्रकृति ने बचपन से ही मियां को लेखन और भाषण पर अधिकार प्रदान किया था। जो बात कहते, ऐसी शालीनता से और इस प्रकार कहते थे कि सुनने वाले के दिल में उतर जाती थी। उन दिनों तुर्की और इटली का युद्ध चल रहा था। सामान्य रूप से हिंदुस्तान के मुसलमानों में तुर्की के प्रति सहानुभूति जोरों पर थी। मियां भी उसमें शामिल थे। उनके आंदोलन पर लड़कों ने मांसाहार बंद कर दिया था ताकि जो धन बचे उससे तुर्कों की सहायता की जाये। वह इस संबंध में स्थान-स्थान पर भाषण भी देते थे और चंदा जमा करते थे। हबीब-उर-रहमान साहब कहते हैं – "जुमे की नमाज़ के बाद ज़ाकिर साहब नमाज़ियों से सताये गये तुर्कों के लिए चंदा

जमा करते। एक बार इटावा की मस्जिद में भाषण दिया, इसके पश्चात अपनी बिना फुंदे की टोपी में चंदा जमा करना शुरू किया। चंदा जमा करते समय उन्होंने कहा –"लाइए हज़रात! जो तांबे के पैसे आप इस टोपी में डालेंगे वे सीसे की गोलियों में तब्दील होकर शत्रु की छाती के पार होंगे।" एक सफेद दाढ़ी वाले महानुभाव पर इस वाक्य का यह असर हुआ कि वह चीख-चीख कर रोने लगे और अपना बटुवा ज़ाकिर साहब की टोपी में उलट दिया। हर बार अच्छी-खासी राशि जमा हो जाती और फिर ज़ाकिर साहब डाकखाने का रुख करते और वह राशि मनीआर्डर द्वारा तुर्कों की सहायता के लिए भेज देते।

उनका ऐसा ही एक भाषण उनके विवाह का कारण बना था। उन दिनों चंदा प्राप्त करने के लिए उन्होंने कायमगंज में भी एक भाषण दिया जिसमें हमारी माता जी के दादा भी सम्मिलित थे। उन पर भाषण का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने भी हबीब साहब के बताये हुए महानुभाव की भांति अपना बटुवा मियां की टोपी में उलट दिया। साथ ही यह भी हृदय में ठान लिया कि अपनी लाड़ली पोती का विवाह इसी लड़के से करेंगे। माता जी का देहांत हो चुका था। दादा की यह इकलौती पोती थीं। उनके अन्य सब बच्चों का भी निधन हो चुका था। इसलिए दादा उन्हें बहुत चाहते थे। वह उनकी आंखों का तारा थीं और वह उन्हें प्यार से "पुतली" कहा करते थे। यों हमारी माता जी का नाम शाहजहां बेगम है। मियां हमारी माता के दादा के सगे भाई के नाती थे। भाषण सुनकर घर आये तो उन्होंने मियां की माता जी यानी अपनी भतीजी को बुलाया और कहा-"मैं ज़ाकिर से अपनी पोती ब्याहना चाहता हूं।"हमारी दादी यानी मियां की माता यह प्रस्ताव सुनकर बहुत प्रसन्न हुई। वह तो स्वयं चाहती थीं लेकिन चाचा के आदर के कारण अभी तक जुबान न खोली थी। अब जबकि वह स्वयं इस मोती को उनकी झोली में डालने को तैयार थे तो उन्हें क्या आपत्ति हो सकती थी। बात पक्की हो गयी, लेकिन दोनों के भाग्य में यह खुशी देखना न लिखा था। कुछ ही समय के पश्चात दोनों का देहांत हो गया और यह विवाह मियां के बड़े भाई और अम्मा की माता ने कराया।

जिस प्रकार मियां के भाषण में जादू था उसी प्रकार उनका लेखन भी प्रभावित करने वाला था और यह भाषण तथा लेखन केवल शाब्दिक जमा-खर्च न था, बल्कि वह जो कहते थे और जो लिखते थे उस पर स्वयं भी अमल करते थे। आरंभ में उन्होंने अपने व्यक्तित्व का एक काल्पनिक चित्र बनाया था जिस पर हर समय उनकी दृष्टि रहती थी। इटावा स्कूल में उन्होंने एक लेख लिखा था। उस समय उनकी आयु 13-14 वर्ष रही होगी। उस लेख का शीर्षक था "विद्यार्थी-जीवन"। उस लेख से ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि में जीवन की क्या परिकल्पना थी और विद्यार्थी के जीवन का क्या उद्देश्य होना चाहिए। लिखते हैं –

"विद्यार्थी का अभिप्राय वह व्यक्ति है जो अपनी प्रकृति को वर्तमान दशा से उत्तम बनाना चाहता है; जो अपनी सामर्थ्य को जहां तक बढ़ने की उसमें शक्ति है, वहां तक बढ़ाना चाहता है – जो इस बात का इच्छुक है कि जहां से ज्ञान की बातें मिलें, जहां से अच्छी-अच्छी बातें उसे मालूम हों, जहां से ज्ञान और उच्च विचार उसे उपलब्ध हो सकें, जहां से उसे संसार के विषय में तथा अपने विषय में ऐसी बातें ज्ञात हों जो उसे ज्ञात नहीं और जिन्हें ज्ञात करने से उसे संसार में सहायता मिलेगी, वहां से उन सबको प्राप्त करे। विद्यार्थी होने के लिए कम-से-कम इतनी बुद्धि अवश्य होनी चाहिए कि वह सद्-असद् में और लाभ-हानि में, प्रिय और अप्रिय बातों में अंतर कर सके।" फिर उसके आगे विद्यार्थी होने का उद्देश्य बताते हैं –

"विद्यार्थी-जीवन का उद्देश्य यह होना चाहिए कि जो अंधविश्वास, संकीर्णता और पक्षपात उसमें हों उन पर विजय पाये, और उसे चाहिए कि नीच प्रकृति को छोड़ दे। उसे चाहिए और उसका कर्तव्य है कि वह अशिक्षित भाइयों में शिक्षा का प्रचार करे, और शिक्षा के प्रचार-प्रसार को अपनी शिक्षा का एक अंग समझे। उसे विद्या, विद्या के लिए पढ़नी चाहिए और साथ ही उसे जीवन की आवश्यकताओं से भी विमुख नहीं होना चाहिए। अगर सांसारिक आवश्यकताओं से विमुख होगा तो वह अपने परिवार को नहीं संभाल सकता और मानवजाति के लिए लाभदायक नहीं हो सकता।"

विद्यार्थी-जीवन का जो ढांचा, जो आकार उन्होंने आठवीं कक्षा में बनाया था संसार के विद्यार्थियों के लिए वह आज भी लाभदायक तथा अनुकरणीय है।

उस अवस्था में एक और व्यक्तित्व जिसने मियां में आध्यात्मिकता का दीप जलाया और साधु-संतों जैसे गुण उत्पन्न किये, वह थे हसन शाह साहब। हसन शाह मियां के दूर के संबंधी थे। वह एक सूफी थे और शाह तालिब फर्रूखाबादी के शिष्य थे। हसन शाह को आरंभ से ही मियां में विशेष रुचि रही। जब मियां छुट्टियों में घर आते तो वह अधिकतर उन्हें अपने साथ रखते थे। हसन शाह की अध्ययन में बहुत रुचि थी। इतनी सामर्थ्य थी नहीं कि पुस्तकें खरीद सकें। इसलिए वह करते यह थे कि जहां भी पुस्तकें मिलतीं ले आते और उनकी नकल कराकर अपने पास रखते। ये पुस्तकें अधिकांश सूफी मत पर होतीं और इसके अतिरिक्त रसायनशास्त्र और अन्य कलाओं पर भी होती थीं। वह उन पुस्तकों की नकल मियां से कराया करते थे, और जहां-तहां कठिन नुक्ते समझाते भी रहते थे। इस प्रकार, वास्तव में वह मियां को आध्यात्मिक दीक्षा देते थे। मियां कहते थे कि इन पुस्तकों की नकल करने से उन्हें बहुत लाभ पहुंचा है। पहले तो उनका लेख बहुत सुंदर हो गया, दूसरे उनका विभिन्न विषयों का ज्ञान बढ़ गया। रसायन (कीमिया) के अनेक नुस्खे उन्हें कंठस्थ हो गये। मियां बताते थे कि बाद में वे नुस्खे बहुत काम आये। उनके एक

मित्र थे अताउल्लाह साहब। वह विज्ञान के विद्यार्थी थे। उन्हें प्रयोग करने में गहरी रुचि थी। वह सोना बनाने के प्रयोग किया करते थे। मियां उन्हें नुस्खे लाकर देते और वह परीक्षण करते रहते। सोना तो खैर क्या बनना था, फिर भी यह संतोष हो गया था कि अताउल्लाह साहब के कमरे में हर समय अंगीठी दहकती रहती थी जिस पर मित्रगण जब चाहते, चाय बना लेते थे। यह अताउल्लाह साहब उस समय तो सोना न बना सके, लेकिन आगे चलकर उनके इस शौक ने सोना प्राप्त करने का उपाय अवश्य खोज निकाला। वह अमेरिका चले गये थे। वहां भी वह उसी धुन में लगे रहे, और एक दिन उन्होंने कुछ ही मिनटों में चावल तैयार करने की तरकीब खोज निकाली जिससे उन्होंने अपार धन कमाया और बहुत से सद्कर्मों में व्यय किया।

पीर हसन शाह के प्रति मियां बड़ी श्रद्धा रखते थे। वह अक्सर उनकी कहानियां सुनाया करते थे। उनकी एक रोचक कहानी यह सुनायी थी कि पीर हसन शाह आरंभ में हिंदुओं से कुछ घृणा रखते थे और कभी-कभी उनके मुख से अशोभनीय शब्द भी निकल जाते थे। यद्यपि इस्लाम और प्रत्येक धर्म इंसानों से प्रेम करना सिखाता है, फिर भी होता यह है कि धर्म की आत्मा को समझे बिना जितना कोई अपने धर्म का अनुयायी होता है उतना ही दूसरे धर्म से घृणा करने लगता है, और दूसरे धर्मों के मानने वालों को घृणा-योग्य समझता है। यही एक सूक्ष्म अंतर है जो एक धर्म के सच्चे अनुयायी में और एक बाह्य रूप पर मुग्ध होने वाले कट्टर धर्मानुयायी में होता है। एक मूल्यों का उपासक होता है और दूसरा बाह्य रीति-रिवाज का जिसे वह धर्म का नाम देता है। हां, तो जब हसन शाह के विषय में यह बात उनके पीर शाह तालिब हुसैन साहब को मालूम हुई तो उन्होंने उन्हें बुलाकर कहा कि हसन शाह तुम्हारा दिल अभी पूरी तरह पाक-साफ नहीं हुआ। एक अल्लाह की भक्ति करने वाले के हृदय में अल्लाह के प्राणियों से घृणा करने का कोई स्थान नहीं होता। इसका इलाज यह है कि तुम सिर पर चोटी और माथे पर तिलक लगाकर कश्मीर से कन्याकुमारी तक पदयात्रा करो ताकि अधिकाधिक लोग तुम्हें इस दशा में देखें और तुम्हें शिक्षा मिले। पहले लोग अपने पीर-मुर्शिद, उस्ताद और गुरु का बहुत आदर-सम्मान करते थे। अतः हसन शाह पीर के आदेश के समक्ष नतमस्तक हो गये और उनके निर्देशानुसार यात्रा की। इसके पश्चात उन्हें पैदल चलने का इतना अभ्यास हो गया था कि जब जी चाहता एक गठरी कपड़ों की ली और एक किताबों की और चल दिये। अंत में जब बहुत वृद्ध हो गये थे और बोझ उठाकर चल नहीं सकते थे तो एक चार पहियों की लकड़ी की गाड़ी बना ली। इसमें कपड़े और किताबें रखकर धकेलते हुए ले जाते थे।

मियां को सूफियों और संतों के प्रति जो श्रद्धा हसन शाह द्वारा प्राप्त हुई वह

जीवन-भर बनी रही। उन्होंने संतों की शिक्षा और जीवन की परिस्थितियों से जो पाठ सीखा वह मानव-प्रेम था जिसमें न धर्म-जाति का भेद था, न रंग-व-नस्ल का लिहाज। हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह पर भाषण देते हुए उन्होंने इन्हीं भावों को प्रकट किया था –

"ख्वाजा अजमेरी ने कहा है कि अल्लाह तक पहुंचने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं – (1) सख़ावते चूं सख़ावते दरिया, (2) शफ़कते चूं शफ़कते आफताब, (3) तवाज़अ ज़मीं। यानी नदी जैसी दानशीलता, सूर्य जैसी कृपा और धरती जैसा आतिथ्य। और कौन नहीं देखता और समझता कि नदी अपनी उदारता में, सूर्य अपनी कृपा में, और धरती अपने आतिथ्य में जाति, धर्म-संप्रदाय, और भाषा-जाति का अंतर नहीं करते।" और आगे कहते हैं – "उदारता, आतिथ्य और कृपा के गुण विद्यमान होने पर भी दीन और धर्म का अंतर लोगों के दिलों को एक-दूसरे से दूर कर देता है। धर्म जोड़ने के स्थान पर तोड़ने, और मिलाने के स्थान पर पृथक करने लगता है। लेकिन पवित्रात्मा वाले मनुष्य की यह दशा नहीं, और होती भी कैसे? उसका हृदय मानव संवेदना से ओतप्रोत था। आपकी शिक्षा और आदेश की विशेषता आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा, सहानुभूति तथा मानव-मैत्री थी।"

3

सन् 1915 में मियां इटावा से हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर अलीगढ़ में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उस समय उनके भाई ने उनका विवाह कर दिया। विवाह कैसे तय हुआ यह मैं पहले ही लिख चुकी हूं कि मियां का एक प्रभावशाली भाषण उनके विवाह का कारण बना। हमारी अम्मां मियां के परिजनों में से हैं; उनका नाम शाहजहां बेगम है। उन्हें घर में लाड़ प्यार से "पुतली बेगम" कहते हैं क्योंकि वह पुतली की भांति कोमल और सुंदरतम बालिकाओं में गिनी जाती थीं। इस अवस्था में भी उनका सौंदर्य विद्यमान है, बल्कि वृद्धावस्था ने उनके मुख पर पवित्रता और आभा की वृद्धि कर दी है। वह बहुत भोली-भाली और निःस्वार्थ महिला हैं। आयु के सात दशक पूर्ण हो चुके हैं। इतनी आयु के पश्चात भी वह लाज-लज्जा की मूर्ति हैं। उन्होंने संसार की चमक-दमक, पद और उपाधि को बहुत निस्पृह रूप में देखा है और अपने को प्रत्येक वस्तु से इस प्रकार पृथक रखा है जैसे ये सब वस्तुएं बस देखने के लिए ही हैं, अपनाने के लिए नहीं। उन्होंने अपना सकल जीवन अपने पति एवं बच्चों की सेवा, तथा घर की देखभाल में व्यतीत किया है। अपने पति की खुशी को अपनी खुशी माना और उन्हें कभी घर की जिम्मेदारियों की चिंता में फंसने नहीं दिया। कम

आमदनी में घर को सुचारू रूप से कुशलतापूर्वक चलाया।

मियां को दावतें करने और मित्रों को खिलाने-पिलाने में बड़ी रुचि थी। अम्मां के हाथ का बना भोजन उन्हें बहुत पसंद था और वह मित्रों को उत्तम भोजन कराना चाहते थे। अतः अम्मां दावतों में स्वयं अपने हाथों से भोजन तैयार करतीं और कभी-कभी पचास-पचास व्यक्तियों का भोजन पकाती थीं। अक्सर मियां दावत दे आते थे और घर पर कहना भूल जाते थे। अम्मां उनकी इस भूल को इतनी सुंदरता से निभाती थीं कि किसी को अंदाजा भी न हो पाता था कि सब प्रबंध इतनी शीघ्रता से हुआ है। इधर कुछ समय से अम्मां का स्वास्थ्य खराब रहने लगा जिसके कारण वह अधिक समय इधर न लगा सकती थीं। मियां कभी-कभी भोजन करते समय उनके सामने मुस्करा कर कहते–"हमारे यहां भी भोजन बहुत अच्छा पका करता था जब हमारी बीवी जिंदादिल थीं।" यह अम्मा के हाथ के खाने की कामना थी। दूसरे दिन ही अम्मां रसोई में पायी जातीं।

अम्मां का रंग इतना गहरा रहा कि संसार का कोई रंग मियां पर न चढ़ सका। जामिआ के दिनों से लेकर राष्ट्रपति भवन तक उन्हें एक ही रंग में पाया। उनकी सजधज, वेशभूषा में तनिक भी अंतर नहीं आया। वह आज भी उतनी ही भोली भाली और सीधी हैं। उन्हें ईश्वर ने बहुत कोमल हृदय प्रदान किया है। मनुष्य तो मनुष्य वह पशु की पीड़ा भी नहीं देख सकतीं। मुझे वे दिन याद आते हैं जब उनकी चहेती बकरी एक अंधे कुएं में गिर गयी थी। उसके छोटे-छोटे बच्चों को वह अपने हाथ से दूध पिलाती थीं और उनके अनाथ होने पर अश्रु बहाती थीं। हम लोग छोटे-छोटे थे; हंसा करते थे। बकरी को खोजने चारों ओर आदमी दौड़ रहे थे। अंत में कुएं के पास से कोई गुजरा तो बकरी की में-में सुनाई पड़ी। झांका तो वह मौजूद थी। उसे झटपट निकाला गया। उस समय अम्मां की खुशी देखने योग्य थी। इसी प्रकार राष्ट्रपति भवन की एक घटना तो हाल की है – राष्ट्रपति भवन के बाहर बरामदों में जंगली कबूतर अधिक संख्या में नीड़ बना लेते हैं। जब उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है और उनके कारण गंदगी होने लगती है तो समय-समय पर उन्हें गोली से उड़ा दिया जाता है और कुछ दिनों के लिए उनमें कमी आ जाती है। वहां अम्मां के आवास के समय एक बार ऐसा ही सब कुछ हुआ – बंदूकों की आवाजें सुनाई देने लगीं तो उन्होंने पूछा कि ये बंदूकें क्यों चल रही हैं? कर्मचारियों ने बताया कि कबूतर मारे जा रहे हैं। यह सुनकर उनके हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा और ऐसी करुणाद्र हुईं कि तबीयत खराब होने लगी। वह चाहतीं तो आदेश देकर मना करा सकती थीं लेकिन उस समय भी उनकी मांग में नम्रता थी। उन्होंने कहला भेजा कि जब कभी कबूतरों को मारना हो तो उन्हें बता दिया जाया करे। मैं ओखले चली आऊंगी। आंखों के सामने यह अत्याचार नहीं देखा जाता। उनका यह संदेश पहुंचते

ही कबूतरों को मारना बंद कर दिया गया और जब तक वह राष्ट्रपति भवन में रहीं यह काम फिर नहीं हुआ।

शिक्षा और बुद्धि की दृष्टि से अम्मां की मियां से कोई तुलना न थी, लेकिन उनके प्रेम और निष्काम सेवा ने मियां को जो कुछ प्रदान किया अन्य कोई नारी प्रदान नहीं कर सकती थी। मियां को इस बात का खूब एहसास था। तभी वह अक्सर हम लोगों से उनकी प्रशंसा करते तथा कहते – "तुम्हारी मां तो अल्लाह की महान आत्मा हैं।"

अम्मां का व्यवहार अपने कर्मचारियों के साथ सदैव समानता का रहा। वह उनके आराम का बहुत खयाल रखती हैं। उनकी परेशानियों में बराबर की शरीक रहती हैं। चाहती हैं उन पर कम से कम काम पड़े। मुझे स्मरण है हमारे यहां ओखला में एक सेविका थी जिसे हम सब 'बुआ' कहा करते थे। उनकी शान यह थी कि आठ बजे से पहले सोकर नहीं उठती थीं। अम्मा सदैव सुबह बहुत सवेरे उठती हैं। वह सुबह उठकर अंगीठी जलाकर नाश्ता तैयार कर देती थीं। उस समय बुआ उठतीं और पहले स्वयं चाय पीतीं जो लगभग तैयार होती थी, उसके पश्चात दूसरा कार्य करती थीं।

अम्मां के स्वभाव में बहुत उदारता तथा निस्पृहता है। उन्हें बहुत कम वस्तुओं की इच्छा होती है। इसलिए वह मियां से बहुत कम फ़रमाइश करती थीं। लेकिन यदि मियां को मालूम हो जाये कि उन्हें अमुक वस्तु पसंद है तो वह किसी न किसी तरह अवश्य उपलब्ध कराते थे। हमारी अम्मां की पशु पालने में बहुत रुचि रहती है – बिल्ली, तोते, मैना, गाय, बकरी, सदा उन्होंने पाली हैं। मियां को यह मालूम था। वह उनकी इस रुचि को परवान चढ़ाने का प्रयत्न करते और उनके लिए उत्तम नस्ल के पशु मंगवाकर देते। देहांत से एक सप्ताह पूर्व अंतिम उपहार जो उन्होंने अम्मां को दिया था वह आसाम की बोलती हुई मैना थी, जो दुर्भाग्य से उनके निधन के आठ-दस दिन पश्चात ही चल बसी।

अम्मां सदा परदे में रहीं। मियां ने कभी उन्हें बाहर निकलने पर विवश नहीं किया। कभी-कभी लोग कहते थे कि बेगम साहब को बाहर आना चाहिए। वह मुस्कराकर उत्तर देते कि मैं व्यक्ति की स्वतंत्रता में विश्वास रखता हूं और किसी पर अपना हुकम नहीं चलाता।

माता-पिता की हम केवल दो बेटियां हैं – एक मैं और एक मेरी छोटी बहन सफिया। मेरा विवाह परिवार में ही खुर्शीद आलम खां साहब से हुआ, और सफिया का शाहजहांपुर के विख्यात वकील एवं रईस (स्व) फ़ज़ल-उर-रहमान साहब के सुपुत्र ज़िल्ल-उर-रहमान खां से, जो आजकल अलीगढ़ यूनीवर्सिटी में भौतिकशास्त्र के प्रोफेसर हैं। मुझे अल्लाह ने तीन लड़कियां और एक लड़का प्रदान किया है, और सफिया को दो लड़कियां और एक लड़का। यह है मियां का छोटा-सा परिवार।

●

मियां इटावा स्कूल से मैट्रिक पास करने के पश्चात सन् 1913 में अलीगढ़ एम.ए.ओ. कालेज में, जो अब मुस्लिम विश्वविद्यालय कहलाता है, दाखिल हुए। यहां से विज्ञान में इंटरमीडिएट किया और उसके पश्चात डाक्टरी की शिक्षा के उद्देश्य से लखनऊ के क्रिश्चियन कालेज में दाखिला लिया। लेकिन वहां पहुंचकर बहुत बीमार हो गये। डाक्टरी पढ़ने का इरादा त्याग दिया और फिर अलीगढ़ वापस आ गये। यहां बी.ए. आर्ट्स में दाखिला लिया और सन् 1918 में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। फिर एम.ए. अर्थशास्त्र में किया और साथ-साथ कानून की परीक्षा (एल.एल.बी.) भी पास की। उस समय प्राध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति भी हो गयी।

उन्होंने प्लेटो के प्रसिद्ध ग्रंथ 'राज्य' का उर्दू में अनुवाद किया। यह अनुवाद शिक्षा-क्षेत्र में बहुत सराहा गया। शिक्षा की समस्याओं को इतनी सरल-और सुबोध भाषा में प्रस्तुत करना उन्हीं का काम था। पाठक के लिए यह अनुमान लगाना कठिन है कि यह अनुवाद है अथवा मौलिक रचना। मौलाना इकबाल सुहैल ने इसके विषय में लिखा है – "प्लेटो को उर्दू आती तो वह इसी भाषा को अपनाता।"

अलीगढ़ के विद्यार्थी-जीवन का समय मियां के व्यक्तित्व एवं चरित्र के निर्माण में बहुत महत्व रखता है। वह अपनी बुद्धि, योग्यता और नैतिकता की श्रेष्ठता के कारण सभी छात्रों और अध्यापकों की आंखों का तारा बन गये। उनके साथी उन्हें "मुर्शिद" (धर्मगुरु) कहते थे। उनकी बुद्धि की विलक्षणता ऐसी थी कि एक बार पुस्तक पढ़ी और उसकी मुख्य सूक्ष्म बातें कंठस्थ हो गयीं। उन्हें परीक्षा के लिए बहुत कम परिश्रम करना पड़ता। वह वर्ष भर कालेज की अन्य गतिविधियों में लीन रहते और परीक्षा के निकट थोड़ा पढ़ लेते और जब परीक्षा-फल आता तो वर्ष-भर पढ़ने वाले लड़के पीछे रह जाते और वह कक्षा में प्रथम आते।

उन्हें कालेज के जीवन के प्रत्येक पहलू में गहरी रुचि थी। रशीद साहब के शब्दों में – "वह सभी मनोरंजक तथा स्वस्थ गतिविधियों में तन्मयता से भाग लेते थे – जैसे वह उनका प्रिय कार्य हो। क्रिकेट, हाकी, फुटबाल, टेनिस कालेज के जीवन से ही उन्हें बड़े प्रिय थे। वह उनमें कोई सक्रिय भाग तो नहीं लेते थे, लेकिन उनसे आनंद लेने में और उन पर मनोविनोद की बातें करने में किसी से पीछे न रहते थे। कोई मैच या समारोह कालेज में कहीं आयोजित हो उसके दर्शकों में ज़ाकिर साहब अवश्यक होते।"

भाषण और लेखन के क्षेत्र में स्कूल के दिनों से उन्होंने अपना सिक्का जमा रखा था। कालेज में उस पर और चमक आ गयी। अंग्रेजी और उर्दू दोनों भाषाओं में लिखते थे। 'RIP' के नाम से कालेज पत्रिका में जो लेख लिखते वे उत्तम शैली में होते और उनके साथी बड़ी आतुरता से उनके लेखों की प्रतीक्षा करते रहते थे। उनके भाषण भी बड़ी रुचि से सुने जाते थे। रशीद साहब के कथनानुसार – "उनके भाषण का एक वाक्य भी अनावश्यक न होता। आरंभ से अंत तक समान और सरल।"

सन् 1920 में जब वह एम.ए.ओ. कालेज में प्राध्यापक के रूप में कार्यरत थे, तब असहयोग आंदोलन शुरू हुआ। देश के नेताओं ने तय किया कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाये। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जब अंग्रेजों ने तुर्की में खिलाफत समाप्त की तो सकल इस्लामी जगत और विशेषकर हिंदुस्तान में अंग्रेजों के विरुद्ध घृणा और क्रोध की भावना भड़क उठी। इस आंदोलन में मुहम्मद अली जौहर, शौकत अली, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डाक्टर असारी, हकीम अजमल खां जैसे महापुरुष और महान विभूतियां सम्मिलित थीं। गांधी जी ने असहयोग आंदोलन शुरू किया तो उन महानुभावों ने हृदय से उनका साथ दिया। उनके सम्मिलित होने से इस आंदोलन में शक्ति का संचार हो गया और हिंदू-मुसलमान दोनों अंग्रेजों को अपने देश से निकालने के लिए जी-जान से जुट गये। हिंदू-मुसलमान की वह एकता जो उस समय थी, फिर कभी देखने को नहीं मिली। उस समय गांधी जी ने देश के सभी विश्वविद्यालयो तथा कालेजों का दौरा किया और छात्रों को शिक्षा संस्थाएं छोड़ने का आग्रह किया। एक निश्चित तिथि पर गांधी जी अलीगढ़ पहुचे और वहां भी उन्होंने यही घोषणा की। जिस दिन गांधी जी ने यूनियन में भाषण दिया मियां संयोग से वहां उपस्थित न थे। वह डाक्टर अंसारी को दिल्ली दिखाने गये हुए थे। जब वापस अलीगढ़ पहुंचे तो स्टेशन ही पर कुछ मित्र पहुंच गये। उन्होंने गांधी जी के भाषण का सार सुना दिया और साथ ही अपने विचार से यह शुभ सूचना भी दे दी कि गांधी जी के भाषण का कोई प्रभाव नहीं हुआ; और साथ ही उनके लिए घृणापूर्ण व्यंग्यात्मक वाक्य भी कह दिये। मियां को लड़कों का ढंग अप्रिय लगा। उन्हें बहुत दुख हुआ। दूसरे दिन यूनियन में गांधी जी के भाषण पर छात्र बहस करने वाले थे। मियां ने उसमें भाग लिया और बहुत प्रभावशाली ढंग से गांधी जी के सरकारी विद्यालयों को छोड़ने के प्रस्ताव का समर्थन किया।

गांधी जी की पुकार का उन्होंने हृदय से स्वागत किया। अब उसके क्रियान्वयन का समय आ गया था; अंतिम निर्णय लेना था। बुद्धि और हृदय में कशमकश थी। इसी दशा में मियां स्वयं बताते हैं कि एक घटना ऐसी घटी कि उनके निर्णय लेने में आसानी हो गयी। स्व. डाक्टर ज़ियाउद्दीन उस समय उपकुलपति थे। वह समझते थे कि यदि ज़ाकिर साहब को उस मार्ग से हटा सके तो अन्य लोग भी विश्वविद्यालय

तरुण भारती

ज़ाकिर साहब की कहानी

सैयदा खुर्शीद आलम

अनुवाद

निज़ामुद्दीन

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

प्रस्तावना

हमारी मित्र-मंडली बंगलौर नगर, बल्कि कर्नाटक राज्य में शैक्षिक संस्थाओं और विद्यालयों से जुड़ी हुई है। इलामीन एजुकेशनल सोसाइटी के अंतर्गत शैक्षिक गतिविधियों का एक जाल बिछा हुआ है। हम प्रायः डा. ज़ाकिर हुसैन साहब की चर्चा गोष्ठियों, सभाओं तथा भाषणों में करते रहते हैं क्योंकि उनके व्यक्तित्व में हमें एक सहृदय शिक्षक, स्नेहिल अभिभावक और सच्चा देशभक्त नजर आता है। मेरे आदरणीय, कृपालु एवं श्रद्धेय, कर्नाटक के राज्यपाल श्री खुर्शीद आलम खान साहब ने मेरे समक्ष यह इच्छा व्यक्त की कि मैं उनकी धर्मपत्नी, आदरणीया सैयदा खुर्शीद आलम द्वारा लिखित पुस्तक 'ज़ाकिर साहब की कहानी' जो कि नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया द्वारा दोबारा छापी जाने वाली है, पर प्रस्तावना के रूप में कुछ लिखूं। उनका आदेश सिर आंखों पर। उसका पालन जिस रूप में बन पड़ा, वह सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

डाक्टर ज़ाकिर हुसैन साहब की गिनती भारत के अग्रणी नेताओं में की जाती है। इस दौर की लगभग आधी शताब्दी तक एक शिक्षाविद् तथा अध्यापक के रूप में वह छाये रहे। उनका पूरा जीवन दूसरों के लिए और विशेषकर नयी पीढ़ी के लिए एक उदाहरण और आदर्श है। डाक्टर साहब की भूमिका उस समय स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आयी जब उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ जामिआ मिल्लिया इस्लामिया की दिल्ली में नींव रखी। उस समय से लेकर बिहार के राज्यपाल का पद संभालने तक डाक्टर साहब जामिआ मिल्लिया को अपने जिगर के खून से सींचते रहे। एक सहृदय शिक्षक और एक कृपालु अभिभावक के रूप में नयी पीढ़ी की जिंदगियों को संवारना उनके जीवन का लक्ष्य बना रहा।

आदरणीया सैयदा आलम साहिबा की पुस्तक 'ज़ाकिर साहब की कहानी' वास्तव में पिता की कहानी पुत्री की जुबानी है। सैयदा साहिबा के मामले में ग़ालिब का यह मिसरा "ज़िक्र उस परीवश का और फिर बयां अपना" चरितार्थ होता है। उनकी लेखनी ने इस कहानी में कुछ ऐसी जान डाल दी है कि डाक्टर साहब के जीवन का एक चलता-फिरता चित्र आंखों के सामने आ जाता है। पुस्तक की भाषा बहुत ही चित्ताकर्षक, सरल एवं रोचक है। राजनीतिक घटनाएं और पारिवारिक परिस्थितियां, मानवीय भावनाओं की कोमलता तथा उष्णता, वार्तालाप की कटुता एवं मिठास, ये

सब ऐसी बातें है जिन्हें उपयुक्त शब्दों में व्यक्त करना बहुत कठिन होता है। किंतु सैयदा साहिबा की लेखनी का प्रवाह कुछ ऐसा है कि वर्णन में कहीं कोई उलझाव पैदा नहीं हुआ। भाषा तथा वर्णन की यह विशेषता उन्हें विरासत में मिली है। डाक्टर साहब की गोद में वह पली और बढ़ी हैं। मानो, उर्दू की गोद में परवान चढ़ी हैं।

राष्ट्रीय नेताओं के जीवन के दो पहलू होते हैं। एक सामाजिक और दूसरा घरेलू। या यह कहिये कि दो चेहरे होते हैं – एक घर के बाहर का और एक घर के अंदर का। दोनों में बड़ा अंतर होता है। उनके घर के बाहर का जीवन पूर्णतः व्यस्त होता है और उनके सार्वजनिक मेलजोल तथा व्यवस्था संबंधी गतिविधियों का परिचायक होता है। घर के अंदर का जीवन हलका और मृदुल होता है। व्यक्ति की वास्तविक पहचान उसके घरेलू जीवन से होती है। घर में वह अनौपचारिक होता है। इसलिए उससे उसका चरित्र और भूमिका पूरी तरह से प्रकट हो जाती है। अपनी मां-बहनों का लिहाज तथा उनके प्रति शिष्टता, पत्नी तथा बच्चों से प्रेम तथा स्नेह और प्रियजनों के प्रति कृपाभाव तथा उदारता – इन सब बातों का पता घरेलू जीवन से चल पाता है। इस पुस्तक में इन सब बातों का वर्णन मौजूद है।

डाक्टर साहब के जन्म से लेकर राष्ट्रपति भवन में भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति के रूप में अपने जीवन के अंतिम क्षण गुजारने तक की घटनाओं पर एक हलका फुलका किंतु सुंदर जायजा इस पुस्तक में मौजूद है। कुछ घटनाएं और ज़ाकिर साहब के कुछ वक्तव्य इस अंदाज में वर्णित किये गये हैं कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। बच्चों से प्यार एवं दुलार, छात्रों के प्रति सम्मान और उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उन्नति के लिए दिल में बेहद तड़प, देश के पदप्रदर्शकों जैसे महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू, रवींद्रनाथ टैगोर, मौलाना मुहम्मद अली जौहर, मौलाना महमूद हसन और हकीम अजमल खान आदि के प्रति गहरी श्रद्धा एवं प्रेम, दूसरों के लिए अपने हित के त्याग की भावना, निष्कपटता, असीम सहनशीलता, परिजनों से सहानुभूति और प्यार और सारे भारत को अपना परिवार समझना, ये सब ऐसे गुण हैं जिन्होंने डाक्टर साहब के व्यक्तित्व को चमका कर सारे देश के लिए अनुकरणीय बना दिया है।

हर प्रकार से पुस्तक इस योग्य है कि इसे लड़के, लड़कियां, बच्चे, बूढ़े सब पढ़ें। एक तरफ तो भाषा का आनंद उठाते रहें और दूसरी तरफ इस बात पर गर्व करें कि भारत का यह सपूत जिसने जीवन का आरंभ छात्रों की शिक्षा-दीक्षा से किया, वह अंततः पूरे भारत का अध्यापक और पथप्रदर्शक बन कर इस संसार से विदा हो गया।

3 दिसंबर 1998

मीर मकसूद अली खान
मुख्य संपादक,
दैनिक सालार, बंगलौर

समर्पण

मैं इस पुस्तक को माताजी के नाम समर्पित करती हूं जिन्होंने अपना सकल जीवन मियां के प्रति त्याग और उनकी सेवा में व्यतीत किया।

– सैयदा खुर्शीद आलम

मेरी ओर से

नेशनल बुक ट्रस्ट के अनुरोध पर मैंने (स्व) पिताजी की जीवनी लिखने का वचन दिया था। इसके साथ-साथ मुझे इस बात का भी एहसास था कि पिताजी पर बहुत कुछ कहा गया है। संभव है भविष्य में भी उनके मित्र एवं प्रशंसक बहुत कुछ लिखेंगे और उनके जीवन तथा कार्यों के विभिन्न आयामों पर और प्रकाश डालेंगे। अब तक जो कुछ लिखा गया है उसमें यह पुस्तक कुछ वृद्धि नही करेगी और न ही यह मेरा उद्देश्य है। मैंने तो उनके पारिवारिक तथा निजी जीवन की कुछ घटनाएं प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वास्तव मे मियां पर लेखनी उठाने से पहले यह भली-भांति एहसास था कि यह इतना बड़ा काम है कि उसका पूरा-पूरा हक अदा न कर सकूंगी, और यह कि जब भी मैंने मियां के विषय में लिखने का प्रयास किया है, मेरे नयन भावावेश में छलक पड़े हैं। अतः यह संक्षिप्त पुस्तक मियां की स्मृतियों का संक्षिप्त-सा रेखांकन भर है।

– सैयदा खुर्शीद आलम

छोड़ने से बाज आ जायेंगे, क्योंकि छात्रों तथा अध्यापकों में उनकी बात एक खास महत्व और मान रखती थी। सभी की आंखें उन पर लगी हुई थीं कि वह क्या निर्णय लेते हैं। अतः डा. ज़ियाउद्दीन ने मियां को बुलाकर समझाया कि क्यों व्यर्थ ही इस झगड़े में पड़कर अपना जीवन खराब कर रहे हैं। यदि वह मान जायें तो वह शीघ्र ही उन्हें डिप्टी कलेक्टरी दिला देंगे। धन, पद, प्रसिद्धि वास्तव में ऐसी मूर्तियां हैं जिनके समक्ष बड़े-बड़े नतमस्तक हो जाते हैं। लेकिन उस लोभ-लालच के संसार में ऐसे सत्यद्रष्टा भी निकल आते हैं जो इन मूर्तियों को एक ही ठोकर में खंडित कर देते हैं। मियां ऐसे ही लोगों में से थे और इन मूर्तियों पर यह उनका प्रथम कुठाराघात था। इसके पश्चात तो जीवन-भर उन्होंने इसी क्रिया की पुनरावृत्ति की। डा. ज़ियाउद्दीन के इस प्रस्ताव ने मियां की कठिनाई को सरल बना दिया और उन्होंने उसी समय अलीगढ़ छोड़ने का निर्णय लिया जो उनके जीवन का प्रथम महत्वपूर्ण निर्णय था। वह स्वयं लिखते हैं – "मैंने अति सक्रिय जीवन व्यतीत किया है, लेकिन सबका सब बिना सोचा-समझा। लेकिन असहयोग आंदोलन में अलीगढ़ छोड़ना जीवन का प्रथम सोचा-समझा निर्णय रहा – संभवतः जीवन का अकेला निर्णय, शेष जीवन केवल उसका प्रवाह रहा है।"

अब प्रश्न यह था कि जिन लोगों की शिक्षा पूर्ण नहीं हुई वे यदि कालेज छोड़ें तो कहां पढ़ें। इस क्रम में मियां दिल्ली गये और हकीम अजमल खां, मौलाना मुहम्मद अली और अन्य दूसरे राष्ट्र नेताओं से मिलकर यह विचार व्यक्ति किया कि यदि एक राष्ट्रीय शैक्षिक केंद्र स्थापित किया जाये तो बहुत से छात्र और अध्यापक अलीगढ़ छोड़ने को तैयार हैं। उन नेताओं ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया और ऐसा शिक्षा-केंद्र स्थापित करने का प्रण किया। इस प्रकार बलिदानियों का यह काफिला एम.ए.ओ. कालेज से निकल आया। अलीगढ़ विश्वविद्यालय की मस्जिद में शैखुल-हिंद मौलाना महमूदुल हसन जो देवबंद के प्रधान अध्यापक थे और एक महान विभूति थे, उनके हाथों से जामिआ की आधारशिला रखी गयी। मौलाना रोग के कारण बहुत दुर्बल थे, अतः स्वयं अभिभाषण न पढ़ सके, उनके शिष्य मौलाना शब्बीर उस्मानी ने वह पढ़कर सुनाया--

"ऐ देश के नौजवानो! जब मैंने देखा कि मेरे दुख से सहानुभूति रखने वाले, जिससे मेरी हड्डियां पिघली जा रही हैं मदरसों और खानकाहों में कम, और स्कूल तथा कालेजों में अधिक हैं तो मैंने और मेरे कुछ मित्रों ने एक पग अलीगढ़ की ओर बढ़ाया। इसी प्रकार हमने हिंदुस्तान के दो ऐतिहासिक स्थानों – देवबंद और अलीगढ़ का रिश्ता जोड़ा। हो सकता है बहुत से सज्जन लोग मेरे इस नारे की आलोचना करें और मुझे अपने पूर्वजों के मार्ग से विचलित हुआ कहें। लेकिन जानने वाले जानते हैं कि जितना अधिक मैं अलीगढ़ की ओर गया हूं उससे कहीं अधिक अलीगढ़ मेरी ओर आया है। मैं लीडरों से अधिक देश के नवयुवकों के परम

उत्साह-साहस पर उन्हें शाबाशी देना चाहता हूं जिन्होंने इस सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी हजारों आशाओं पर पानी फेर दिया और हर प्रकार के प्रलोभन तथा भय को त्यागकर वे बड़ी दृढ़ता और अटलता से स्थिर बने रहे और अपने प्रिय जीवन को जाति तथा देश के नाम पर समर्पित कर दिया।"

जामिआ की स्थापना की घटना और मौलाना महमूदुल हसन शैखुल-हिंद के इस अभिभाषण को मियां ने जामिआ की रजत जयंती के अवसर पर अपने भाषण में दोहराया है – "मुझे वह समय याद है और मेरे असंख्य साथियों को भी, जब अलीगढ़ कालेज की मस्जिद में एक पवित्र हस्ती, जिलावतनी, बीमारी तथा देश की चिंताओं ने जिसकी हड्डियां पिघला दी थीं, जिसके चेहरे के पीलेपन से ज्ञात होता था कि दुख की आंच ने रक्त की एक-एक बूंद सोख ली है, जिसके दीप्त नेत्र इस विश्वास का संकेत कर रहे थे कि चाहे सब कुछ बिगड़ा दिखाई देता है, लेकिन मर्दों की भांति साहस से काम लिया जाये तो अल्लाह की मदद से सब कुछ ठीक हो सकता है। यह पवित्र हस्ती दीवार से टेक लगाये बैठी थी। दुर्बलता के कारण वह लोगों को संबोधित भी नहीं कर सकती थी और उसका संदेश उसके शिष्य मौलाना शब्बीर उस्मानी सुनाते हैं कि मित्रो! स्मरण रहे कि वह जिस दीवार की टेक लिये बैठे थे वह केवल ईट-पत्थर की दीवार न थी। वह दृढ़ ईमान और विश्वास अर्थात एक महान जाति के अतीत की दीवार थी, और वह न केवल उन युवकों को संबोधित कर रहे थे जो उनके सामने थे, बल्कि उनका संबोधन सभी भावी पीढ़ियों के लिए था। उस समय किसी मकान की आधारशिला नहीं रखी गयी थी, किसी भवन का उद्घाटन नहीं हो रहा था। चंदों के लिए भी घोषणा नहीं की गयी थी कि यह काफिला सब कुछ छोड़कर साधनहीनता की ओर बढ़ रहा था। यह सामयिक लाभ के बदले सामयिक हानि का सौदा कर रहा था। उसे इस लोक की अपेक्षा परलोक अधिक प्रिय था। वह परिश्रम का संकल्प लेकर नवनिर्माण के लिए निकला था और दुखों-कष्टों को अन्य सुविधाओं और शारीरिक आराम से अधिक प्रिय मानता था। यों और इस दशा में जामिआ इस्लामिया का कार्य 29 अक्टूबर 1920 को आरंभ हुआ।"

मौलाना मुहम्मद अली जामिआ के प्रथम कुलपति हुए और हकीम अजमल खां प्रथम उपकुलपति। अलीगढ़ में कृष्णाश्रम और बंगाली कोठी के टेंटों में जामिआ की कक्षाएं होने लगीं। दो वर्ष तक मियां ने मुहम्मद अली का हाथ बंटाया। इसके पश्चात अर्थशास्त्र की उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी चले गये। मौलाना मुहम्मद अली को भी अपनी राजनीतिक गतिविधियों के कारण जेल जाना पड़ा और ख्वाजा अब्दुल मजीद कुलपति नियुक्त हुए।

जर्मनी-प्रवास के समय मियां ने अर्थशास्त्र तथा दूसरे शास्त्रों के विशेषज्ञों की

संगति से लाभ प्राप्त किया। सर्वाधिक प्रभाव उन पर उनके गुरु प्रो. जोमोबार्ट का पड़ा। उन्हीं के निर्देशन में उन्होंने पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को केवल अपने विषय तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि दूसरी गतिविधियों में भी बड़ी तन्मयता से भाग लेते रहे। वह वहां छात्र-समिति के अध्यक्ष थे। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता के विषय में उनके भाषण अत्यंत रुचि से सुने जाते थे। यहीं उनकी भेंट डा. आबिद हुसैन और मुहम्मद मुजीब साहब से हुई जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने जर्मनी आये हुए थे। मियां के व्यक्तित्व का प्रभाव उन दोनों महानुभावों पर इतना गहरा पड़ा कि उन्होंने भी अपने जीवन को उसी धारा में डाल दिया जिसमें मियां पहले ही अपने आपको प्रवाहित कर चुके थे। मियां के हिंदुस्तान आने के पश्चात ये लोग भी आ गये और अपने मूल्यवान जीवन को जामिआ की सेवा के लिए समर्पित कर दिया। और जामिआ के पचीस वर्ष के आवास में ये दोनों मियां के प्रत्येक दुख-दर्द में, हर्षोल्लास में बराबर सम्मिलित रहे। मुजीब साहब[1] आज भी, मियां ने जामिआ के जो उत्तरदायित्व उन्हें सौंपे थे, साहस एवं दृढ़ता से पूर्ण कर रहे हैं।

5

यद्यपि मियां का विषय अर्थशास्त्र था लेकिन उन्हें आरंभ से ही शिक्षा के प्रति गहरी रुचि रही। वह जर्मनी में भी बराबर उसकी धुन में लगे रहे और शैक्षिक प्रयोगों तथा शिक्षा-पद्धति के विषय में ज्ञान अर्जित करते रहे। इस विषय में वह स्वयं लिखते हैं – "मेरा विषय अर्थशास्त्र रहा है जिससे परिस्थितियों ने मुझे दूर ही रखा है। मैं उस अनिश्चित अस्तित्व में परिवर्तित हो गया हूं जिसे शिक्षाविद् कहा जाता है।"

बर्लिन के प्रवास के समय उन्होंने कादयानी प्रेस में कम्पोजिंग का काम भी सीखा और दीवान-ए-गालिब स्वयं अपने हाथों से कम्पोज किया। फरवरी 1926 में मियां जर्मनी से वापस आये। वह परिवार बल्कि बस्ती के प्रथम व्यक्ति थे जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने विदेश गये थे। जब कायमगंज पहुंचे तो उनका बहुत भव्य स्वागत किया गया। बस्ती के लोग प्रसन्नता और गर्व से फूले नहीं समाते थे। स्टेशन से घर तक उन्हें जुलूस के रूप में लाया गया। मार्ग में लोगों ने पुष्प-वर्षा की। कई सप्ताह तक उनकी दावतों का क्रम चलता रहा और परिवार वालों ने बड़ा उत्सव मनाया। हमारे एक प्रियजन उस समय छोटे ही थे। वह बताते हैं कि हम भी स्टेशन

---

1. मुजीब साहब का कई वर्ष पूर्व देहांत हो चुका है।

अपने बढ़िया वस्त्र पहनकर ज़ाकिर मियां को लेने गये थे। वहां से वापस आकर अपने मित्रों को जो अपनी आंखों देखा हाल सुनाते थे तो उसमें यह अवश्य कहते थे कि रेलवे गार्ड ने ज़ाकिर मियां से बात की तो ज़ाकिर मियां ऐसी अंग्रेज़ी बोले कि वह वहां ठहर न सका।

6

सन् 1925 में जामिआ अलीगढ़ से स्थानांतरित होकर दिल्ली आ गयी थी और करोल बाग में कुछ किराये की कोठियों में कार्य आरंभ कर दिया गया था। ख्वाजा अब्दुल मजीद, उनके पश्चात ताहिर एस. मुहम्मदी उपकुलपति हुए थे। आर्थिक दशा बड़ी ही खराब थी, राजनीतिक उत्साह एक सीमा तक ठंडा पड़ चुका था और जामिआ के संस्थापक जामिआ को बंद करने के विषय में सोच रहे थे। ये परिस्थितियां थीं जब मियां जर्मनी से वापस आये और कुलपति नियुक्त हुए। अब तक जामिआ को खर्चे के लिए हकीम साहब किसी न किसी प्रकार धन उपलब्ध कराते रहे थे। सन् 1927 में उनका देहांत हो गया। डाक्टर मुख़्तार अहमद अंसारी उपकुलपति नियुक्त हुए। हकीम साहब के निधन के पश्चात आय के सब साधन समाप्त हो गये थे। अब निर्णायक घड़ी आ गयी थी। मियां ने अपने साथियों की राय मालूम की। साथियों का त्याग देख कर मियां का उत्साह और बढ़ा। उनके मन की कामना पूर्ण हुई। राष्ट्रीय शिक्षा समिति की स्थापना की गयी। इस प्रकार जामिआ को चलाने का बेड़ा मियां तथा जामिआ के अध्यापकों ने उठाया। समिति के सदस्यों ने शपथ ग्रहण की कि बीस वर्ष तक वह जामिआ को नहीं छोड़ेंगे और एक सौ पच्चीस रुपये मासिक से अधिक वेतन न लेंगे। आरंभ में ये सदस्य जिन्हें आजीवन सदस्य कहा जाता था संख्या में ग्यारह थे, लेकिन धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती रही और जामिआ की रजत जयंती पर 24 हो गयी थी। इस प्रण का उन लोगों ने इस प्रकार निर्वाह किया कि उसका उदाहरण मिलना कठिन है। यों तो 150 रु. से अधिक न लेने का प्रण किया गया था लेकिन सचाई यह है कि 150 रु. की अंतिम सीमा तक कोई न पहुंचा। स्वयं मियां का वेतन 75 रु. मासिक था जिस पर उन्होंने जीवन के 20 उत्तम वर्ष व्यतीत किये और वह भी कभी नियमित रूप में प्रतिमास न मिले। कहीं से कुछ रुपये आ गये तो कुछ-कुछ वेतन बांट दिया जाता, वरना अल्लाह का नाम। मुझे याद है हमारी अम्मां जिन्हें इस अत्यल्प राशि में गृहस्थी चलानी होती थी, बहुत किफायत से काम लेतीं। लेकिन फिर भी कभी-कभी उनके मुख से यह निकल जाता कि मुझे अधिक रुपये की आवश्यकता नहीं लेकिन बस मैं इतना चाहती हूं कि एक निश्चित राशि मुझे प्रति मास मिल जाया करे ताकि मैं उसी के अनुसार अपने खर्चे

को बांट लूं।

राष्ट्रीय शिक्षा समिति के विषय में मियां ने जामिआ की रजत जयंती पर जो भाषण दिया, उसमें कहते हैं – "मैं समझता हूं कि इस समिति की स्थापना हमारे शैक्षिक इतिहास में एक ध्यान देने योग्य घटना है। इसने उस भौतिकवादी युग में शैक्षिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा नैतिक कार्य करने के उद्देश्य से आधारशिला रखी, और ऐसा कार्य करना चाहा जिसका वास्तविक पुरस्कार स्वयं काम में होता है। हमारे अतीत की महान परंपराएं इस कार्यशैली की कृतज्ञ हैं। हमारे भविष्य के लिए इस नवीन सेवा-पद्धति का रिवाज एक अच्छा शगुन है।"

रशीद साहब के शब्दों में – "जामिआ की स्थापना से देश में एक स्वस्थ एवं आशाप्रद परंपरा में वृद्धि हुई है।" देखना यह है कि इस परंपरा को मियां और उनके साथियों ने किस प्रकार और किन परिस्थितियों में जीवित रखा।

जामिआ वालों ने कम वेतन पर कार्य आरंभ तो कर दिया लेकिन अधिक न सही, कम ही सही, धन उपलब्ध कराने की समस्या पूर्ववत ही रही। बहुत विचार-विमर्श करने के पश्चात यह उपाय सोचा गया कि जामिआ का संबंध जनता से जोड़ा जाये और कम-अधिक राशि जनता से प्राप्त की जाये। इस ध्येय से जामिआ से सहानुभूति रखने वालों के नाम से एक संस्था बानायी गयी जिसका उद्देश्य जनता को जामिआ की प्रगति से अवगत कराना था और उनसे स्थाई व नियमित रूप से आर्थिक सहायता लेना था। यह प्रयोग बहुत सफल रहा। इसमें होते-होते दस हजार हमदर्द हो गये। उनसे प्राप्त राशि बढ़ते-बढ़ते रजत जयंती के समय पचास-साठ हजार रुपये वार्षिक हो गयी थी। कुछ रईसों और रियासतों से भी बड़ी-बड़ी राशियां मिलने लगीं। इस संस्था का भार शफ़ीक-उर-रहमान को सौंपा गया। यह जामिआ के बहुत बड़े हितैषी और उत्साही कार्यकर्ता थे। मियां के अच्छे मित्र तथा अपने प्राण निछावर करने वाले थे। वह एक सच्चे मुसलमान की जीती-जागती तस्वीर थे। सदैव खद्दर का कुरता पाजामा, एक खद्दर की सदरी पहने रहते थे। जाड़ों में एक गर्म चादर ओढ़े रहते थे। हर समय जामिआ के कामों के लिए घूमते-फिरते रहते थे। चंदा लेने शहर-शहर, कस्बा-कस्बा फिरते। जहां तक होता सवारी पर पैसा खर्च न करते। ऐसे नेक और सच्चे लोग अब कहां हैं?

जामिआ का काम अब तक करोल बाग में कुछ किराये के मकानों में चल रहा था। फिर जामिआ की आर्थिक दशा जब कुछ सुधरने लगी तो अपने भवन बनाने की ओर ध्यान दिया गया। ओखला में यमुना नदी के किनारे भूमि खरीदी गयी। सर्वप्रथम प्रारंभिक पाठशाला का भवन बनाया गया, फिर धीरे-धीरे दूसरे विद्यालय, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज और जामिआ कालेज के भवन भी बन गये और ओखला में जामिआ की एक बस्ती बस गयी जिसे 'जामिआ नगर' नाम दिया गया।

जामिआ मिल्लिया के भवन-निर्माण में मियां ने जिस रुचि और दिलचस्पी का प्रमाण दिया था, कोई अपना घर बनाने में भी मुश्किल से दे सकेगा। जामिआ के भवनों की आधारशिला रखने में भी एक नवीनता अपनायी गयी। साधारण रूप में आधारशिला किसी बड़े आदमी से रखवाने की परंपरा चली आयी है, लेकिन यहां इसके बिल्कुल विपरीत यह शुभ परंपरा जामिआ के सबसे छोटे छात्र ने निभायी। वास्तव में यह एक संकेत था उस आशा का जो मियां को भावी नवयुवकों से थी। जनवरी 1935 में इस समारोह की घोषणा करते हुए उन्होंने कहा –

"इस शुभ रीति को पूर्ण करने के लिए ऐसे व्यक्ति का चयन किया गया जो न बड़े लोगों में से है, न शासक-वर्ग का है, न धनी वर्ग का है, न विद्वानों में है, न देश के नेताओं में है, न जाति के बड़े लोगों में है – कुछ भी नहीं है, लेकिन सब कुछ हो सकता है। यह जामिआ का सबसे छोटा बच्चा है। विवेकशील व्यक्ति इस चयन की सराहना करेंगे और यह स्वीकार करेंगे कि यह भविष्य का स्वामी, हम वर्तमान के दासों से इस पदवी के लिए कहीं अधिक उपयुक्त है।"

जामिआ ऐसा शिक्षा-केंद्र न था कि जो केवल पुस्तकीय ज्ञानप्राप्ति का माध्यम हो, बल्कि उसकी बुनियाद राष्ट्रीय भावना के आधार पर पड़ी थी। उसका उद्देश्य पुस्तकीय शिक्षा से कहीं ऊंचा और व्यापक था। जामिआ का उद्देश्य स्वयं मियां के शब्दों में देखिये –

"जामिआ का सबसे बड़ा उद्देश्य हिंदुस्तानी मुसलमानों के भावी जीवन का ऐसा मानचित्र तैयार करना है जिसका केंद्र इस्लाम धर्म हो और उसमें हिंदुस्तानी संस्कृति का वह रंग भरे जो जनसाधारण की संस्कृति के रंग से एकाकार हो जाये। उसकी बुनियाद इस विश्वास पर है कि धर्म की सच्ची शिक्षा हिंदुस्तानी मुसलमानों को देश-प्रेम व राष्ट्र-एकता का पाठ देगी, हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और विकास में भाग लेने के लिए तैयार करेगी। हिंदुस्तान अन्य देशों के साथ मिलकर संसार के क्रियाकलाप में भाग लेकर शांति व संस्कृति की लाभप्रद सेवा करेगा।"

अक्सर देखा गया है कि तंगी, अभाव में भावना जितनी तीव्र होती है, समृद्धि में उतनी नहीं होती। कभी-कभी धन की अधिकता सद्‌कर्म करने वालों की भावना तो ठंडा कर देती है। जामिआ की तंगदस्ती के दिन अब समाप्त हो रहे थे। उसके अपने भवनों का निर्माण हो रहा था। अध्यापकों का वेतन नियमित रूप से दिया जाने लगा था। उस समय मियां का ध्यान जामिआ की आत्मा की ओर था जिसका महत्व उनकी दृष्टि में इस बाह्य रूप से अधिक था। वह चाहते थे कि जामिआ की आत्मा नष्ट न हो। इस विचार को उन्होंने जामिआ के भवनों की आधारशिला रखते समय प्रकट किया था। उन्होंने कहा था –

"बड़े-बड़े भवनों के निर्माण करने में सदैव यह आशंका रहती है कि कहीं शिक्षा

की आत्मा उनमें बंदी बनकर न रह जाये, और सामान उपकरणों की प्रचुरता शिक्षा संस्था के ध्येय को दबा कर नष्ट न कर दे। आपको ज्ञात है कि जामिआ छोटी-छोटी कच्ची इमारतों और झोपड़ियों में आरंभ किया गया था और उसके कार्यकर्ताओं का सदा यह प्रयत्न रहा कि उसकी आर्थिक तंगी की दशा में उसकी स्वतंत्रता और उच्चादर्श को सुरक्षित रखा जाये। यदि नवीन भवनों के निर्माण के कारण यह आशंका हो कि जामिआ अपने ध्येय पर अटल न रहेगा तो मैं प्रार्थना करूंगा कि ये भवन तैयार होने से पूर्व ही धराशायी हो जायें।"

जामिआ के चिह्न (मोटो) की व्याख्या उन्होंने 'पयामे-तालीम' पढ़ने वाले बच्चों के लिए बहुत मनोहर रूप में की है। वैसे बच्चों को संबोधित किया गया है लेकिन बड़ों को भी लक्ष्य किया गया है; कहते हैं –

"जानते हो इस चिह्न का अर्थ क्या है? देखो, इसमें सबसे ऊपर एक तारा है जिसमें लिखा है 'अल्लाहो अकबर' (अल्लाह बहुत बड़ा है)। जब अंधेरी रात में निर्धन यात्री निर्जन जंगल में यात्रा करते हुए भटक जाते हैं, कोई मार्ग दर्शाने वाला नहीं होता तो वे तारों को देखकर मार्ग खोज लेते हैं। जामिआ को मार्ग बताने वाला तारा यही 'अल्लाहो अकबर' का तारा है। उनकी दृष्टि इसी पर जमी है कि अल्लाह ही सबसे बड़ा है। जिसने उसके आगे मस्तक झुकाया उसने सच्ची जिंदगी का पता पाया। उसके सामने झुककर फिर यह सिर किसी और के सामने कैसे झुक सकता है? इस चमकते हुए हिदायत के तारे के नीचे एक पुस्तक है जिस पर लिखा है – 'इल्मुल इंसाना मालम यालम'। यह पुस्तक पवित्र कुरआन है। इसके द्वारा अल्लाह ने अपने बंदों को अपनी इच्छा का पता दिया कि वह क्या चाहता है, किस प्रकार सद्कर्म करके, आपस में एक-दूसरे को भाई-भाई जानकर, धनी-निर्धन का भेद मिटाकर, रंग-रूप का अंतर दूर कर, स्वामी और सेवक का भेद मिटाकर उसके बंदे अच्छे-सच्चे बंदे बन सकते हैं। इस पुस्तक ने लोगों को अंधेरे से प्रकाश में पहुंचा दिया और जो मार्ग से विचलित हो गये थे उन्हें भी सीधा मार्ग दर्शाया, और उसके लाने वाले ने अपने पवित्र जीवन के उदाहरण से, अपनी आंखों के प्रभाव से और हृदय की गर्मी से ऐसे व्यक्तियों का एक समूह तैयार किया जिसने संसार से भांति-भांति की विकृतियों, बुराइयों को नष्ट किया और अल्लाह के बंदों की सच्ची बिरादरी स्थापित की।

"इस चिह्न के दोनों ओर खजूर के दो वृक्ष हैं। ये क्या हैं? ये इस देश का निशान हैं जहां अल्लाह का यह अंतिम पैगाम लाने वाला पैदा हुआ। उस बंजर घाटी का निशान जिसमें यो तो कुछ उगता न था, पर जहां अल्लाह के दीन के पौधे ने जड़ पकड़ी। जो लोग प्रतिकूल परिस्थिति में अपने कार्य से घबरा जाते हैं उनके लिए यह सांत्वना का सामान है कि उस देश से जहां इन खजूरों के अतिरिक्त

फूल-पौधा नाम को न था, हिदायत के स्रोत फूट गये, जिनसे दिलों की बस्तियां अभिसिंचित हुईं। फिर तुम बाह्य दशा देखर क्यों निराश हृदय होते हो?

सबसे नीचे एक सूक्ष्म-सा चंद्रमा है जिसमें लिखा है – 'जामिआ मिल्लिया इस्लामिया।' यह चंद्र अभी छोटा-सा है लेकिन जैसे चंद्र बढ़कर पूर्णिमा का चंद्रमा बन जाता है उसी प्रकार यह जामिआ, जिसके कार्य का अभी श्रीगणेश हुआ है, अल्लाह ने चाहा तो बढ़कर उज्ज्वल चंद्रमा बनेगा और देखने वालों को आनंदित करेगा।"

मियां की हार्दिक इच्छा और पूर्ण प्रयत्न यह था कि वह जामिआ को एक ऐसी राष्ट्रीय संस्था बनायें जहां राष्ट्रीयता तथा इस्लामियत इस प्रकार कंधे के कंधा मिलाकर चलती दिखाई दें कि एक जाति चाहे अपने मुसलमान होने पर गर्व करे, और एक मुसलमान अपने राष्ट्रवादी होने पर गर्व कर सके। धर्म एक राष्ट्रीय एकता का माध्यम बन जाये। उनकी यह अभिलाषा जामिआ में जीती-जागती जिंदगी के रूप में आज भी नजर आती है। वहां हिंदु-मुसलमान में कोई भेद नहीं। पुराने अध्यापकों में हिंदू भी थे, मुसलमान भी, और ईसाई भी। एक अध्यापक कीलाट साहब ईसाई थे। अंग्रेज़ी पढ़ाते थे और बच्चों को व्यायाम भी कराते थे। सुबह की नमाज़ में लड़कों को भेजने के लिए मुसलमान अध्यापकों से अधिक कीलाट साहब आदेश देते तथा आग्रह करते थे।

जामिआ का आरंभ यद्यपि कालेज से हुआ था, लेकिन मियां को बच्चों में जो रुचि थी, और बच्चों की शिक्षा-दीक्षा को वह जितना अधिक आवश्यक समझते थे उसके कारण जामिआ में बच्चों पर अधिक ध्यान दिया गया। जर्मनी प्रवास के दिनों के शैक्षिक अनुभवो का अध्ययन भी उस समय मियां के बहुत काम आया और उन्होंने जामिआ में बच्चो की शिक्षा के विषय में नये-नये प्रयोग आरंभ किये और इसके लिए उन्होने पाठ्यक्रम में व्यावहारिक गतिविधियो का भाग बहुत अधिक कर दिया। मुर्गी-पालन, बागवानी, बच्चों का बैंक आदि का स्कूल में परिचय कराया। जामिआ में समानता का वातावरण बनाने के लिए एक दिन ऐसा निश्चित किया गया था जिस दिन अध्यापक और सब बच्चे स्कूल के सभी कार्य मिल कर करते थे। यहां तक कि मेहतर और चपरासी का कार्य भी बच्चे स्वयं करते थे। सारे स्टाफ की उस दिन छुट्टी रहती थी। रात को एक बड़ा डिनर होता था, जिसमें स्कूल के विद्यार्थी, अध्यापक, कर्मचारी सब एक साथ बैठकर बच्चों के हाथ का पकाया हुआ खाना खाते थे। इस प्रकार बच्चों को हाथ से काम करने की और समानता की शिक्षा मिलती थी। यह एक अनुपम प्रयोग था जो हिंदुस्तान के किसी विद्यालय में नहीं हुआ था।

जामिआ बस्ती के शैक्षिक कार्यक्रमों के अतिरिक्त जामिआ की और सेवाएं भी

थीं। वयस्क लोगों की शिक्षा के लिए दिल्ली के कई मोहल्लों में शिक्षा एवं विकास के विभाग के अधीन शिक्षा-केंद्र खोले गये थे। इस योजना को शफ़ीक-उर-रहमान किदवाई ने बड़े सुचारू रूप से चलाया और अब भी ये केंद्र बहुत सफलता के साथ चल रहे हैं।

मियां ने जामिआ में उर्दू अकादमी की आधारशिला रखी, मकतब-ए-जामिआ स्थापित किया। उन्हीं के नेतृत्व में 'दीवाने-गालिब', 'रुबाइयात उमर खय्याम', 'दीवाने-शैदा' प्रकाशित किये गये। 'रिसाला जामिआ' निकाली गयी, जो उर्दू की एक स्तरीय पत्रिका है। मियां 'अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू हिंद' के अध्यक्ष भी रहे। बच्चों के लिए 'पयामे-तालीम' निकालने की भी व्यवस्था की गयी जिसमें बच्चों के लिए उनके लेख भी प्रकाशित होते थे।

मियां की कार्यशैली बड़ी अनोखी थी। वह अपने साथियों के साथ इस प्रकार कार्य करते थे कि अफसर-मातहती का प्रश्न ही नहीं उठता था। उन्होंने कार्य-विभाजन प्रत्येक की योग्यतानुसार किया था। प्रत्येक व्यक्ति जामिआ को चलाने में अपना उत्तरदायित्व अनुभव करता था। जामिआ ही उसका घर, उसका परिवार था। मियां यद्यपि कुलपति थे लेकिन वह हर प्रकार का कार्य करते थे। वह प्राथमिक स्कूल की पहली कक्षा को पढ़ाते थे और कालेज के विद्यार्थियों को भी। कार्यालय का काम भी करते थे और सफाई की देखभाल भी तथा भोजन का निरीक्षण भी। इसके कारण उनके सहयोगी अपने दरजे या महत्व से हीन काम करने में लज्जित महसूस नहीं करते थे।

रशीद साहब ने अपनी पुस्तक 'ज़ाकिर साहब' में लिखा है – "जामिआ का प्रत्येक छोटा-बड़ा हर समय यह देखता था कि वह स्वयं क्या है और क्या कर रहा है और ज़ाकिर साहब क्या हैं और क्या कर रहे हैं! सारा झगड़ा इस तराजू में तुलकर समाप्त हो जाता था। बौद्धिक दृष्टि से जो व्यक्ति अपने आपको बड़ा समझता, ज़ाकिर साहब की बौद्धिक योग्यता के सामने नतमस्तक हो जाता था। अपने त्याग-बलिदान का, नैतिक श्रेष्ठता का किसी को ख्याल आता तो वह यह समझ जाता कि उनकी श्रेष्ठताओं में भी तराजू का पलड़ा ज़ाकिर साहब की ओर झुकता है। कुलीनता, वंश की प्रतिष्ठा अथवा सामाजिक या सरकारी संबंध, या पहुंच पर किसी को अभिमान होता तो वह जान जाता कि उनका सरदार खानदानी दृष्टि से भी खरा कंचन है, और इस रूप में भी अधिक श्रेष्ठ तथा दृढ़ एवं अधिक विशाल है। श्रम करने तथा कर्त्तव्य-पालन को देखता तो ज्ञात होता कि ज़ाकिर साहब जैसा कर्मठ, श्रमशील और अपने सुख-चैन का परित्याग करने वाला क्षेत्र में उनके समान अन्य कोई नहीं था। किसी को अपनी प्रतिभा, मेधाशक्ति का स्मरण आता तो वह यह देखता कि इस घाटी में भी अगुआ ज़ाकिर साहब ही हैं। क्लर्क यह देखता कि

ज़ाकिर साहब उससे अधिक क्लर्की करते हैं। चपरासी यह समझता कि ज़ाकिर साहब उससे अधिक दौड़धूप करते हैं और छोटे से छोटा काम भी अपने हाथ से करने में सबसे आगे रहते हैं। बच्चा यह देखता कि ज़ाकिर साहब जैसा कोई बच्चा नहीं। युवक यह अनुभव करता कि ज़ाकिर साहब उससे अधिक युवा हैं, और बूढ़ा यह देखता कि बुढ़ापा ज़ाकिर साहब के निकट जाने से डरता है तो फिर वह बुढ़ापे को क्यों कुछ समझे?

इनके अतिरिक्त भी प्रत्येक व्यक्ति का यह विश्वास था कि वह दूसरों के लाभार्थ जान खपाते हैं। उसके दुख-दर्द और आदर-समृद्धि को अपना आदर और समृद्धि समझते हैं तो फिर कौन ऐसा होगा जो ज़ाकिर साहब को छोड़कर अपनी अंतरात्मा की भर्त्सना करता?"

मियां के जीवन की सफलता का रहस्य सर्वप्रथम तो उनका व्यक्तित्व था, दूसरे उनकी कार्यशैली। रशीद सिद्दीकी साहब एक स्थान पर लिखते हैं – "ज़ाकिर साहब की कार्यशैली का बड़ा सुंदर पहलू यह है कि उन्होंने काम करने या काम लेने में पद को शक्ति अथवा राजनीति के रूप में प्रयुक्त नहीं किया। उन्हें जितना विश्वास अपनी भलाई और दूसरे की अच्छाई पर है उतना पद पर नहीं। जीतने का इससे बड़ा हथियार अब तक आविष्कृत नहीं हो सका। इस हथियार का प्रयोग सरल नहीं, जरा सी असावधानी या प्रमाद हुआ, और व्यक्ति उसका स्वयं शिकार हो जाता है।"

जामिआ के कार्यों के अतिरिक्त भी मियां की असंख्य दूसरी व्यस्तताएं थीं। उन्हें शैक्षिक प्रयोगों में सदैव रुचि रही। गांधीजी शिक्षा की एक ऐसी योजना बनाना चाहते थे जिसमें हाथ के कार्य का महत्व हो। और देश के बच्चों, विशेषकर ग्रामीण कृषक, श्रमिक और निर्धन लोगों के बच्चों को कार्य के द्वारा शिक्षा दिलाने का प्रयत्न किया जाये। ऐसी शिक्षा जो विद्या के साथ-साथ श्रम के महत्व का एहसास भी हृदय में उत्पन्न करे और जिससे बुद्धि के साथ-साथ शरीर के सभी अंगों के भी प्रशिक्षण में सहायता मिले। इस बात पर संसार के सभी शिक्षाविद् एकमत हैं कि प्रारंभिक अवस्था में बच्चा स्वाभाविक रूप से बुद्धि से सोचने की अपेक्षा हाथ से काम लेना अधिक पसंद करता है और हाथ के काम के द्वारा शिक्षा देना अधिक सरल और स्वाभाविक उपाय है।

गांधीजी की दूर दृष्टि को आभास हो गया था कि इस कार्य के लिए मियां से उत्तम कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। इसलिए उन्होंने यह कार्य मियां को सौंप दिया। गांधीजी का विचार तो था कि चरखा और तकली के द्वारा शिक्षा दी जाये और बच्चों के कार्य की आमदनी से स्कूल का व्यय पूरा किया जाये।

मियां ने गांधीजी की इस बात से किसी सीमा तक सहमति प्रकट की कि शिक्षा में हाथ के काम का अधिक भाग होना चाहिए, लेकिन बच्चों के काम से आमदनी

बढ़ाना उसका ध्येय नहीं होना चाहिए। इस बात का विरोध किया कि स्कूल का खर्च बच्चों के काम की आमदनी से ही निकले। केवल रुपया पैदा करना ध्येय न हो, यों थोड़ी बहुत आमदनी हो जाये तो उसमें कोई हर्ज नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा कि हाथ के काम में केवल तकली और चरखे को ही शिक्षा का माध्यम बनाना उचित नहीं, बल्कि उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय उत्पादन तथा आवश्यकता के अनुसार काम सिखाने की सिफारिश की। गांधीजी ने इस प्रस्ताव को पसंद किया। प्राथमिक शिक्षा समिति गठित की गयी। मियां को उसका अध्यक्ष बनाया गया। उन्होंने बड़े श्रम और लगन से प्राथमिक शिक्षा-योजना तैयार की। उसमें बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा की सिफारिश की गयी। शिक्षा मातृभाषा में रखी गयी। और शिक्षा का माध्यम उद्योग या हस्तकला निश्चित किया गया।

बच्चों की शिक्षा कैसी हो, और किस प्रकार हो, इसके विषय में उनके मस्तिष्क में जो रूपरेखा थी उसे वह अपने "तालीमी खुतबात" (शिक्षा-विषयक भाषण) में इस प्रकार व्यक्त करते हैं – "मेरा विचार है कि जब हम शिक्षा के विषय में काम का जिक्र करें तो हमें वही कार्य ध्यान में रखने चाहिए जिनसे शिक्षा प्राप्त हो, बुद्धि का विकास एवं प्रशिक्षण प्राप्त हो, आदमी अच्छा आदमी बने। मैं समझता हूं कि आदमी की बुद्धि अपने किये को परखकर, उसके अच्छे-बुरे पर दृष्टि रखकर उन्नति करती है, और आदमी जब कुछ बनाता है, या कोई काम करता है, चाहे वह काम हाथ का काम हो, चाहे बुद्धि का, तो उस काम से उसे बौद्धिक-शैक्षिक लाभ तभी पहुंच सकता है जब वह उस काम का पूरा हक अदा करे। उस काम के लिए अपने को समर्पित करे, अपने पर थोड़ा संयम और नियंत्रण रखे। काम से शैक्षिक लाभ वही उठा सकता है जो उसका हक अदा करे, उस काम के अनुशासन को अपने ऊपर ओढ़ ले। इसलिए प्रत्येक काम शैक्षिक काम नहीं होता। काम शैक्षिक तब ही हो सकता है जब उसके आरंभ में बुद्धि कुछ तैयारी करे। जिस काम में बुद्धि की कुछ पैठ न हो, वह काम निर्जीव मशीन भी कर सकती है, और उससे बुद्धि शिक्षित या प्रशिक्षित नहीं होती। काम से पहले काम की रूपरेखा या रेखाचित्र मस्तिष्क में अवश्य बनाना चाहिए। फिर दूसरा कदम बौद्धिक होता है, यानी उस रूपरेखा को कार्यरूप देने के उपाय सोचना, उनमें किसी को लेना, या किसी को छोड़ देना। तीसरा कदम होता है काम को उन चुने हुए उपायों के द्वारा पूर्ण करना, और चौथा कदम है किये हुए को परखना कि जो रेखाचित्र बनाया गया था, और जो काम करना चाहा था वही किया और जिस प्रकार करने का निश्चय किया था उसी प्रकार किया या नहीं। ये चार मंजिलें हों तो भी प्रत्येक काम शैक्षिक नहीं हो जाता। ऐसे प्रत्येक काम से कुछ कुशलता अवश्य उत्पन्न हो जाती है। चाहे हाथ की कुशलता हो, चाहे भाषा की, लेकिन कुशलता शिक्षा नहीं है। शिक्षित व्यक्ति का जो चित्र हमारे सामने आता है उसमें केवल कुशलता का रंग नहीं होता। कुशल तो चोर भी होते हैं। हुनरमंद धोखा

भी देते हैं और सच को झूठ भी कर दिखाते हैं। ऐसी हुनरमंदी तो शिक्षा का उद्देश्य नहीं हो सकती। शैक्षिक काम वही हो सकता है जो किसी ऐसे मूल्य का आदर करे, सेवा करे जो हमारे स्वार्थ से दूर हो और जिसे हम मानते हों। जो अपना स्वार्थ सिद्ध करता है वह हुनरमंद अवश्य हो जाता है, लेकिन शिक्षित नहीं। जो मूल्यों की सेवा करता है वह शिक्षा प्राप्त कर लेता है। मूल्य की सेवा में मनुष्य काम-कर्तव्य पूरा करता है, अपना आचरण ठीक करता है। इसलिए कि आचरण और क्या है – सिवाय इसके कि जो मूल्य मानने के हैं उनकी सेवा में मनुष्य अपनी इच्छाओं, प्रलोभनों और आनंद को दबाये और उस मूल्य की पूर्ण सेवा करे और उस सेवा का जो हक है उसे पूरा-पूरा अदा करे। काम का यह गुण हाथ के काम में भी हो सकता है, और साथ ही हाथ का काम भी उससे खाली हो सकता है, और बुद्धि का काम भी। सच्चे काम की पाठशाला वही है जो बच्चों में काम से पहले उन्हें सोचने और काम को जांचने, परखने का अभ्यास कराये ताकि वे काम से इस बात के अभ्यस्त हो जायें कि वे जब कभी काम करें, हाथ या बुद्धि का, तो उसका पूरा-पूरा हक अदा करने का प्रयत्न करें। काम को शिक्षा का माध्यम बनाने वालों को प्रत्येक क्षण यह स्मरण रखना चाहिए कि काम निरुद्देश्य नहीं होता। काम प्रत्येक फल पर प्रसन्न नहीं होता। काम केवल कुछ करके समय बिताने का नाम नहीं। काम केवल मनोरंजन नहीं। काम सोद्देश्य श्रम है। काम शत्रु की भांति आत्म-परीक्षण करता है, तथा उसमें खरा उतरने पर वह ऐसी प्रसन्नता प्रदान करता है जो कहीं प्राप्त नहीं होती। कर्म साधना है। कर्म पूजा है, किंतु साधना और भक्ति में भी तो लोग स्वार्थी बन जाते हैं। अपना स्वर्ग पक्का कर लिया, दूसरे से क्या काम! कर्म की वास्तविक पाठशाला तो कर्म को अकेले का स्वार्थ नहीं बनने देती, बल्कि सब की सब पाठशाला एक कर्म में जुटा समूह बन जाती है जिसमें सब मिलकर कर्म करते हैं और सब के काम से ही सब का कार्य पूर्ण होता है। सब का सब से काम निकलता है, और सब के न किये बिना काम बिगड़ता है। किसी एक की गलती से सब के काम की हानि होती है। दुर्बल को पीछे छोड़कर आगे चल देना कठिन होता है। यों मिलजुल कर काम करने से कंधे से कंधा रगड़ता है तो वे गुण उत्पन्न होते हैं जिनका हमारे देश में बहुत अभाव है; यानी व्यक्ति का व्यक्ति से निबाह कर सकना, और उत्तरदायित्व का वह एहसास जिससे समाज का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक व्यक्ति का काम बन जाता है।"

प्राथमिक शिक्षा-योजना को आरंभ करने के लिए आवश्यक था कि अध्यापकों को ऐसी शिक्षा देने के लिए तैयार किया जाये। इस संबंध में जामिआ में एक टीचर्स ट्रेनिंग कालेज खोला गया जहां बेसिक एजूकेशन के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाने लगा। अध्यापकों के उत्तरदायित्वों और ध्येय के विषय में उन्होंने अनेकों व्याख्यान दिए, और स्थान-स्थान पर अपने लेखों में अध्यापक के चरित्र के महत्व

को स्पष्ट किया। वास्तविकता तो यह थी कि वह प्रकृति से शिक्षक थे। 'अच्छा अध्यापक' शीर्षक से अपने भाषणों में उन्होंने, जो सन् 1936 में आकाशवाणी से प्रसारित किये गये थे , कहा है –

"सच्चे अध्यापक के लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे मनुष्यों से प्रेम करता हो। उसके हृदय में मनुष्यों से मनुष्य के रूप में प्रेम हो। आप उन सच्चे शिक्षकों, अच्छे अध्यापकों पर दृष्टि डालिये तो उनमें बहुत से बड़े धार्मिक व्यक्ति दिखाई पड़ेंगे। प्रेम और सौंदर्य के प्रेमी कलाकार भी उनकी पंक्ति में मिलेंगे, लेकिन ये पंक्तियां उनकी मानसिक संरचना में बेल-बूटे हैं, ताना-बाना वही, सेवा में रुचि तथा मानवता के प्रति प्रेमभाव है।"

उनकी दृष्टि में एक अच्छे अध्यापक के लिए किसी ज्ञान व हुनर का विशेषज्ञ होना काफी नहीं, बल्कि उसमें प्रेम-मैत्री के ऐसे तत्त्व भी हों जो इंसान को वास्तविक इंसान कहलाने के अधिकारी बनाते हैं। इसी बात को एक स्थान पर वह अत्यंत आकर्षक रूप में व्यक्त करते हैं –

"अध्यापक की जीवन-पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ज्ञान नहीं लिखा होता, 'प्रेम' का शीर्षक होता है। उसे इंसानों से प्रेम होता है। समाज जिन गुणों का वाहक है, उनसे उसे प्रेम होता है। उन छोटे-छोटे प्राणियों से प्रेम होता है जो आगे चलकर उन गुणों के वाहक बनने वाले हैं। उनमें जहां तक और जिस शैली से उन गुणों की पूर्ति का सामान है यह उसमें सहायक होता है। उस काम में अपने हृदय के लिए सुख-चैन तथा अपनी आत्मा के लिए शांति प्राप्त करता है।"

जामिआ को चलाने के लिए चंदा जमा करने, भवन बनवाने के अतिरिक्त मियां प्रत्येक अच्छे काम में बड़े उत्साह और उमंग से भाग लेते थे। उनमें से एक उत्तरदायित्व दिल्ली के प्रसिद्ध 'यतीमखाना' (अनाथालय) से भी था जिसे दिल्ली का 'वक्फ बोर्ड' (धर्मार्थ ट्रस्ट) चलाता था। मियां को उसका अध्यक्ष बनाया गया तो उन्होंने उसके सुधार का काम आरंभ किया। एक अनाथ बालक की भावना से वह भलीभांति परिचित थे क्योंकि वह उस मंजिल से गुजर चुके थे। उन्हें 'यतीमखाना' नाम एक आंख भी नहीं भाता था। क्या यह आवश्यक है कि प्रत्येक अनाथ बालकों को हर समय उस की बेबसी का एहसास दिलाया जाये और उसे अनचाहे तौर पर मानसिक रोगी बना दिया जाये? उन्होंने उसका नाम "बच्चों का घर" रखा और उसके वातावरण को वास्तविक घर के वातावरण में बदलने का प्रयत्न किया। दयालु व्यक्ति विभिन्न स्थानों से बच्चों को भोजन कराने के लिए बुलाया करते थे। मियां ने कठोरता से पाबंदी लगा दी कि इस प्रकार बालक फकीरों की भांति भोजन करने किसी के यहां नहीं जायेंगे। जो लोग खाना खिलाना चाहें, वहीं भेज दें और इस सम्मान से भेजें कि बालकों को एहसास न हो कि वह दान का भोजन कर रहे हैं। बालकों के

रहन-सहन में, वेशभूषा आदि में भी स्पष्ट परिवर्तन लाया गया और उनके आवास को लगभग उसी प्रकार से रखा गया जैसे जामिआ मिल्लिया में बालकों के लिए प्रबंध था। बालक वहां रहते थे और विभिन्न स्कूलों और हाथ के काम सीखने के स्थानों पर अपने सामर्थ्य के अनुसार शिक्षा प्राप्त करते थे। अब भी वह 'बच्चों का घर' उसी प्रकार से चल रहा है और बीसियों लड़के शिक्षा प्राप्त कर, वहां से अच्छे नागरिक बनकर निकल रहे हैं।

इन सब व्यस्तताओं के साथ मियां ने कमोबेश 25 वर्ष व्यतीत किये और किस प्रकार व्यतीत किये यह रशीद अहमद सिद्दीकी के शब्दों में सुनिये – "ज़ाकिर साहब ने सबसे पृथक होकर, सबके लिए जामिआ की आधारशिला रखी। कष्ट उठाया, बेबसी देखी, गालियां सुनीं, बदनामी उठायी, प्रतीक्षा की, लेकिन मुख न मोड़ा, मुस्कराने से बाज न आये, शत्रु से डरे नहीं, न उसे दुत्कारा, मांगा तो दे दिया, उसने चुराया तो जाने दिया। प्रतीक्षा करने से घबराये नहीं। इसलिए कि अच्छे और बड़े काम में प्रतीक्षा की मंजिल बिल्कुल लुप्त हो जाती है। परिणाम का भय नहीं होता।"

इन सभी कठिनाइयों के बावजूद जिनसे जामिआ मिल्लिया को अपने 25 वर्षों में गुजरना पड़ा, मियां ने जामिआ को अपने उद्देश्य से विचलित नहीं होने दिया। उन्होंने ज्ञान को धन का आश्रित नहीं बनाया और न इस बात की अनुमति दी कि जामिआ की कंगाली से लाभ उठाकर धनी लोग या सरकार जामिआ की शिक्षा-व्यवस्था पर अधिकार जमा लें। उन्होंने जनसाधारण से अपना संबंध स्थापित किया और सरकार तथा जागीरदारों ने या राजा-महाराजाओं ने बिना शर्त सहायता दी तो स्वीकार कर ली। उन्होंने हाथ फैलाया भी तो निस्पृहता के साथ। एक बार जामिआ की रजत जयंती के संबंध में चंदे के लिए रामपुर गये थे। वहां उन्होंने जो भाषण दिया उसका वर्णन सैयदैन साहब ने इस प्रकार किया है – "चंदा मांगने से अधिक धनी व्यक्ति की शिक्षा संबंधी दृष्टि थी और उन्हें उनके कर्तव्य का बोध कराना था। भाषण का अत्यधिक प्रभाव सबके चेहरे पर दिखाई देता था, बल्कि किसी-किसी के नेत्रों से तो आंसू टपकने लगते थे। उनका कहना था कि यदि जामिआ का काम अच्छा नहीं है, और छानबीन करने के पश्चात आपको इसकी ओर से संतोष नहीं होता तो किसी के कहने या सिफारिश करने से आप उसे एक पैसा न दीजिये। लेकिन यदि इन 25 वर्षों के संघर्ष को आपने देखा है और आप यह समझते हैं कि यह काम देश और जाति के लिए लाभप्रद है तो जामिआ के कार्यकर्ताओं का कर्तव्य नहीं कि आपके सामने हाथ फैलायें, याचना करें। आपका अपना काम है कि आप उसकी सहायता के लिए हाथ बढ़ाएं। जो जाति अपने निःस्वार्थ सेवकों का सम्मान नहीं करती और उनके कार्य को आगे बढ़ाने के उपाय नहीं सोचती, उसके लिए यह शुभ सूचना है कि उसमें इस प्रकार के काम करने वाले जन्म ही नहीं लेंगे और उसका जीवन केवल कारोबार, धन आर्जित करने, या लड़ाई-झगड़े के दलदल में फंसकर रह

जायेगा। साधारण रूप से, लेने वाले का हाथ नीचे और देने वाले का ऊपर होता है लेकिन धनी व्यक्ति का सौभाग्य यह है कि वह ज्ञान व विद्या की सहायता करते समय अपना हाथ नीचे रखे और लेने वाले का हाथ ऊपर रहे।" सैयदैन साहब के कथनानुसार – "ज़ाकिर साहब की मोहताजी में भी यह अनोखी शान है कि यदि ख़ाने-काबा का द्वार न खुले तो वह उल्टे वापस आ जाते हैं।"

एक ओर जामिआ जाति, राष्ट्र के निर्माण का कार्य कर रही थी, दूसरी ओर राजनीतिक नेता राष्ट्र को अंग्रेजों की दासता से मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। लेकिन अंग्रेज की चालाकी कहिये या अपनी नासमझी कि इस कल्याणकारी आंदोलन में सांप्रदायिकता का विष फैलने लगा। हिंदू-मुस्लिम में घृणा की आग भड़कने लगी। मियां के दयामय हृदय में इसकी तीव्र अनुभूति और बहुत पीड़ा थी। एक स्थान पर जामिआ के रजत जयंती समारोह के अवसर पर वह देश के कर्णधारों से कहते हैं – "आज देश में पारस्परिक वैमनस्य की जो आग भड़क रही है उसमें बाग लगाने का काम पागलपन प्रतीत होता है। यह आग सज्जनता तथा मानवता की धरती को भस्म कर देती है। इसमें पुण्यात्मा और संतुलित व्यक्तित्व के सुमन कैसे उत्पन्न होंगे? पशु से निम्नतर नैतिक स्तर पर हम मनुष्य के आचरण को कैसे सुधार सकेंगे? अत्याचार के युग में सभ्यता को कैसे बचा सकेंगे? उसके लिए सेवक कैसे उत्पन्न कर सकेंगे? पशुओं के संसार में मानवता की सुरक्षा कैसे करेंगे? ये शब्द शायद कुछ कठोर प्रतीत होते हों, लेकिन उन परिस्थितियों के लिए जो दिन-प्रतिदिन हमारे चारों ओर फैल रही हैं, इनसे कठोर शब्द भी बहुत कोमल होते। हम जो अपने काम की अपेक्षाओं से बालकों का आदर करना सीखते हैं, आपको क्या बताएं कि हम पर क्या बीतती है? जब हम यह सुनते हैं कि इस पशुतापूर्ण संघर्ष में अबोध बालक भी सुरक्षित नहीं हैं? हिंदी के कवि ने कहा था कि प्रत्येक बालक जो संसार में आता है अपने साथ संदेश लाता है कि भगवान भी मनुष्य से पूर्ण रूप से निराश नहीं हुआ, परंतु क्या हमारे देश का मनुष्य अपने से इतना निराश हो चुका है कि उन मासूम कलियों को भी खिलने से पूर्व मसल देना चाहता है? खुदा के लिए सिर जोड़कर बैठिये और इस आग को बुझाइये। यह समस्या इस राष्ट्र या उस राष्ट्र के जीवित रहने की नहीं है। सभ्यता, मानव-जीवन और पशुता में से चयन की है। खुदा के लिए इस देश में सभ्य जीवन की बुनियादों को खुदने न दीजिये!"

ये परिस्थितियां थीं जब 1945 में जामिआ ने अपने जीवन के 25 वर्ष पूर्ण किये। जामिआ की रजत जयंती का समारोह मनाने का निर्णय किया गया। देश में जिस सीमा तक राजनीतिक द्वेष तथा विरोध फैला हुआ था, उस दशा में भिन्न विचार के लोगों का किसी एक बात पर सहमत होना, और एकत्रित होना बहुत कठिन प्रतीत होता था। लेकिन यह मियां के व्यक्तित्व का चमत्कार था कि जामिआ की रजत

जयंती अवसर पर जहां एक ओर जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, सैयद हुसैन, राजगोपालाचार्य आदि थे, वहां दूसरी ओर मुहम्मद अली जिन्ना, लियाकत अली खां आदि भी उपस्थित थे। और जामिआ के कामों की दोनों प्रकार के लोगों ने प्रशंसा की थी। जामिआ की रजत जयंती बड़े भव्य रूप में मनायी गयी। इस अवसर पर मियां ने जो भाषण दिया, वह उर्दू भाषा में संबोधन का एक अनुपम उदाहरण है। उस दृश्य का चित्रांकन रशीद अहमद सिद्दीकी ने इस प्रकार किया है – "भाषण पढ़ने उठे तो सबकी दृष्टि उन पर जम गयी। वह भाषण भी क्या था? और उसमें क्या कुछ न था? कितनी विचारोत्तेजक बातें कितनी ईमानदारी, विश्वास और सहानुभूति से कितना सच्चा और पक्का व्यक्ति जाति और देश के किस प्रतिनिधि वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा था? कुछ देर के लिए ज्ञात हुआ कि उस तूफान का रुख फिर जायेगा जो प्रत्येक अच्छे विचार और कर्म को नष्ट भ्रष्ट कर रहा था और प्रेम एवं आशा का वह सूर्य जिसमें ग्रहण लग रहा था, पुनः प्रकाशित होने लगेगा। सबके नेत्र सजल थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे राष्ट्र की आत्मा जाति से संबोधित हो। ज़ाकिर साहब के उस भाषण से तूफान तो न रुका, और जो होना था वह होकर रहा। लेकिन देश का भविष्य में जो इतिहास रचा जायेगा, उसमें इस तथ्य को स्पष्ट किया जायेगा कि इस संकट-काल में न्याय, सज्जनता, मानवता के पक्ष में प्रत्येक संकट से विमुख होकर जिन लोगों ने अपनी आवाज उठायी और भेदभाव, संकीर्णता तथा मूर्खता का डटकर सामना किया उनमें ज़ाकिर साहब का नाम बहुत प्रमुख होगा।"

जामिआ की रजत जयंती पर जामिआ का ध्वज फहराने की रीति के अवसर पर कुलपति अब्दुल मजीद ख्वाजा साहब को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा – "उन 25 वर्षों में जो बीत गये हैं हमने इस ध्वज को, जिसे आपने फहराया है, कुछ अर्थ देने का प्रयत्न किया है। हमने प्रयत्न किया है कि यह उचित शिक्षा और सदाचार की शिक्षा की पताका बन जाये, यानी वैयक्तिक मूल्यों को पददलित किये बिना चरित्र में निश्चिंतता तथा व्यक्तित्व में दृढ़ता, परिपक्वता उत्पन्न करने की पताका बन जाये। परिणामों के प्रति निस्पृह होकर सद्प्रयास तथा उचित और अखिल प्रयास की पताका बन जाये। कर्म को पूजा की भांति संपन्न करने की पताका बन जाये। बातें करके सस्ती सुविधाओं के बावजूद कष्ट उठाकर जीवन बनाने की पताका बन जाये। शक्ति, पवित्रता, शोभा की पताका बन जाये। साहस और दृढ़ता की, निर्भय नैतिक साहस, स्पष्टवादिता की, न्याय एवं अधिकार के पक्ष में डट जाने की, प्रत्येक उपद्रव, अशिष्टता में शिष्टता तथा शालीनता की पताका बन जाये। दुख में सुख पर विश्वास, और सुख में उसकी ओर ध्यान जो सुख प्रदान करता है, कष्ट में संतोष और आसानी में कृतज्ञता की पताका बन जाये। हमने प्रयत्न किया है कि उसके संरक्षण में पलने वाले अच्छे, सच्चे, स्वस्थ, मन के मानव-मित्र हों। सभ्य, शिष्ट, दृढ़

संकल्प, विचारों से स्पष्ट और शुद्ध, अपनी कहने योग्य, दूसरों की सुनने-समझने के लिए तैयार, जिंदादिल, निर्भय – केवल एक खुदा से डरने वाले, और दूसरों के डर से विमुख, हमने सच्चे दिल और पूर्ण विश्वास के साथ इस पताका को यह अर्थ देने का प्रयत्न किया है। हम जानते हैं कि प्रयत्न काफी नहीं है। हमारी भूलों के कारण अपूर्ण है। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि जो ऐसा इरादा करता है और उसके लिए कोशिश करता है, उसका प्रयत्न फलीभूत होता है। उसके दरबार में जो हृदय में सद्संकल्प उत्पन्न करता है और उन्हें पूर्ण करने की शक्ति प्रदान करता है, वह विचलित पगों को अटल रखता है।"

जामिआ की रजत जयंती के दो वर्ष पश्चात यानी 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ, लेकिन तब उसके दो टुकड़े कर दिये गये और पाकिस्तान अस्तित्व में आया। हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य को दूर करने के बजाय उस घृणा को शाश्वत रखने का साधन तैयार हो गया। करोड़ों लोग बेघर हुए, लाखों गोदें उजड़ीं, हजारों के सुहाग लुट गये। एक ऐसे सहृदय को जिसने अपना सकल जीवन दूसरों के सुधारने में और दिलों को जोड़ने की कोशिश में लगाया हो, उसे मानव-जीवन की यह त्रासदी भी देखनी पड़ी। उसके हृदय पर क्या बीती होगी? वह उस समय कठिन आध्यात्मिक पीड़ा में डूबे थे। स्वास्थ्य खराब रहने लगा था। उन्हीं दिनों उन्होंने कुछ दिन श्रीनगर में बिताने का इरादा किया। जगह-जगह दंगे भड़क उठे थे। पंजाब उसी आग में जल रहा था। लोगों ने उस स्थिति में यात्रा करने से रोका भी, लेकिन जिसे खुदा पर विश्वास हो उसे मृत्यु का भय नहीं होता। यात्रा के लिए दिल्ली से प्रस्थान किया। मार्ग में एक और परिचित मुसलमान साथ हो गये जो जालंधर जा रहे थे। जालंधर में हत्याकांड हो रहा था। ये दोनों इससे अनजान अपनी मंजिल की ओर बढ़ रहे थे। जालंधर स्टेशन पर रेल रुकी तो चार हट्टे-कट्टे सिख डिब्बे में आये, उनका सामान उठाया और उन्हें साथ चलने को कहा। इधर-उधर देखा कोई न सुनने वाला, न हमदर्दी करने वाला। मामला समझ में आ गया, और समझ गये कि अंतिम समय निकट आ गया। इतने में एक खुदा का बंदा, जिसका मार्ग में ही साथ हुआ था, और उससे परिचय भी हो गया था, उसने मियां और उनके सेवक को इस प्रकार बाहर ले जाते हुए देखा तो दौड़े हुए स्टेशन मास्टर के कमरे में गये और बताया कि अमुक व्यक्ति हैं जो पंडित नेहरू के खास मित्र हैं। यदि उन्हें कुछ हो गया तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। लौटकर मियां से कहा – "जब तक कोई प्रबंध न हो जाये आप चलकर स्टेशन मास्टर के कमरे में बैठिये।" उन्होंने यही बातें गुंडों को भी बतायीं। गुंडों का आग्रह था कि मान लो हम ज़ाकिर साहब को छोड़ भी दें लेकिन दूसरे व्यक्ति और सेवक को नहीं छोड़ेंगे, और न सामान देंगे। मियां ने जब यह सुना तो व्याकुल होकर कमरे से बाहर आये और कहा कि यह कभी न होगा। हम जहां भी जायेंगे तीनों साथ जायेंगे। इतने में एक सिख सेना-अधिकारी उधर से

गुजरे। मियां को देखकर चकित रह गये। सारा वृत्तांत उन्हें मालूम हुआ तो उन्होंने गुंडों को डांट-डपट कर भगा दिया, और उन्हें अपनी सुरक्षा में मियां के एक मित्र बेदी साहब के यहां, जो जालंधर में रहते थे, पहुंचा दिया जहां उन्होंने रात गुजारी और प्रातः फिर दिल्ली के लिए रवाना हुए।

प्रस्थान के तीसरे दिन जब मियां फिर दिल्ली पहुंचे तो हम सब आश्चर्यचकित, कि कार्यक्रम तो कई सप्ताह का था, इतनी शीघ्र क्यों वापस आ गये, और वह भी इस दशा में कि न बिस्तर, न संदूक। कपड़े भी कुछ मैले-से पहने हुए थे। पूछा तो जिस विश्वास से उन्होंने यह किस्सा सुनाया उसमें न कोई भय था, न किसी के प्रति घृणा की भावना। रशीद साहब ने इस घटना के विषय में लिखा है – "यह घटना देखी नहीं, लेकिन इसकी कल्पना कर सकता हूं। ज़ाकिर साहब वधशाला की ओर इस प्रकार जा रहे होंगे जैसे गणतंत्र भारत के प्रतिष्ठित राष्ट्रपति के रूप में किसी सांस्कृतिक या उसी प्रकार के किसी अन्य समारोह का उद्घाटन करने अथवा किसी विवाहोत्सव में वर-वधू के साथ चित्र खिंचवाने उनको घर वाले जबरदस्ती ले जा रहे हों। खैर, जैसे-तैसे दिल्ली मकान पर वापस आ गये तो मुखाकृति से ऐसा प्रतीत होता था जैसे कोई मीलाद पढ़ने वाले (पैगंबर हजरत मुहम्मद साहब का गुणगान करने वाले) महगे समय मे आशा से अधिक नकदी और मिठाई (उपहार रूप में) प्राप्त कर बीवी-बच्चों में पहुंच गये हों।"

वहां से वापस आये तो दिल्ली में बहुत व्यापक रूप से सांप्रदायिक दंगे आरंभ हो चुके थे। करोल बाग में मक्तबा जामिआ के कार्यालय को आग लगा दी गयी। जामिआ का पुस्तकालय जला कर राख कर दिया गया। इधर ओखला में जामिआ नगर की बस्ती को भी प्रत्येक ओर से भय था। आसपास के गांव इस बस्ती को नष्ट करने का निश्चय किये हुए थे। जामिआ में उन दिनों अवकाश था। अधिकांश लोग अपने घरों को गये हुए थे। जो लोग वहां थे उनमें बहुत बेचैनी थी। शहर में हत्याकांड हो रहा था। लोग भयभीत थे और बहुत-से मुसलमान भारत छोड़ने को तैयार थे। लेकिन मियां ने तय कर लिया था कि अपने स्थान से न हिलेंगे। जो भी होगा झेलेंगे। मियां की हिम्मत और साहस के कारण उखड़े हुए कदम जम गये। उन्होंने अपने साथियों को ढाढ़स बंधाया, सुरक्षा का प्रबंध किया। आसपास के गांव वालों से संपर्क किया। जामिआ के लोग जामिआ की बिल्डिंग में एकत्रित हो गये थे। एक भाग में महिलाएं थीं और दूसरे में पुरुष। रात में बारी-बारी पहरा देते थे। कुछ बंदूकें भी थीं। स्वयं मियां भी यह सेवा करते। कुछ दिन इसी प्रकार बीत गये। फिर गांधीजी जामिआ पधारे। जामिआ वालों को सांत्वना दी। पं. जवाहर लाल नेहरू भी आये और सुरक्षा का समुचित प्रबंध कराया।

जब जामिआ वालों की सुरक्षा से संतोष हुआ तो शहर के उन मुसलमानों को

जो भय-संकट में फंसे हुए थे, कैंपों में पहुंचाने और उनके खाने-पीने की व्यवस्था में लग गये। एक जीप पर दिन-रात इस काम में व्यस्त सारे शहर में फिरते, न उन्हें अपने प्राणों का भय था, न कष्ट का। बस एक ही विचार था कि किस प्रकार संकटग्रस्त लोगों को सुविधाएं पहुंचाई जायें।

धीरे-धीरे दंगों के अमंगलकारी साये कम होने लगे। महात्मा गांधी ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर उस अग्नि को शीतल किया। घृणा की उस अग्नि में भारत का क्या कुछ न भस्म हुआ! कैसे-कैसे अनमोल रत्न मिट्टी में मिला दिए गये। गांधीजी की मृत्यु, भारत के लिए एक महान हानि थी जिसकी क्षतिपूर्ति संभव नहीं थी। मियां के लिए यह शोक हृदयविदारक था, लेकिन उन्होंने बहुत साहस और दृढ़ता दर्शाई। काम में जुटे रहे। 'दक्षिण भारत हिंदू प्रचार सभा', मद्रास के एक भाषण में गांधी का स्मरण करते हुए वह कहते हैं –

"बापू के निधन से कौन-सा अच्छा काम है जिसे धक्का नहीं लगा। वह जब तक हमारे मध्य थे तो पूर्ण रूप से उनके कार्य की व्यापकता हमें दिखाई नहीं देती थी। आज उनके उठ जाने के पश्चात सूझता है कि उस एक आदमी का हाथ कहां-कहां था। उसने राष्ट्रीय जीवन के एक-एक रोएं को कैसा समझा था। वह अपनी मसीहाई उंगली से कैसे हमारी दुखती रग को छूता था और प्रत्येक दुख के लिए दवा के क्या-क्या जतन करता था। वह केवल स्वतंत्रता नहीं चाहता था। स्वतंत्रता के लिए एक कौम बनाना चाहता था। वही एक था जो जानता था कि राज ही से तो धरती पर कौम की परख नहीं होती है। वास्तविक बात राज नहीं, राष्ट्रीय जीवन है। राष्ट्रीय जीवन यदि रोग-ग्रस्त हो तो मिला-मिलाया राज बिगड़ जाता है और बिगाड़ता है। स्वयं सड़ता है और राष्ट्रीय जीवन को सड़ाता है, मुसीबत बन जाता है और छिन जाता है। और जब यही जीवन सुधरता है तो दासता की सघन अंधेरी रात में भूखे पेट, नंगे शरीर, थरथराते हाथों, स्वराज का दीपक जला लेता है। उसके सुधारने से राज सुधरता है। उसकी दृढ़ता से राज की शक्ति बढ़ती है।" गांधीजी रामराज्य चाहते थे इसलिए उन्होंने सारा जीवन देश और जाति को अच्छा-भला बनाने में लगा दिया। कथनी और करनी के बीच की कड़ी जो बहुतों के यहां टूटती रहती है उसे जोड़ा और जो कुछ किया उसे सच्चाई-अच्छाई के नियम पर परखा। खरा पाया तो उस पर प्राण देने की सीमा तक अड़े, अपने या अपने साथियों के काम में कोई खोट पाया तो जगहंसाई तक से न डरे और खोट को खोट बताया और जताया। और इस प्रकार इस क्षेत्र में जहां अच्छे-नेक लोग बुराई का सहारा लेने और बुराई को सहारा देने से नहीं चूकते, जहां बहुत से पवित्र आदर्शों के लिए अपवित्र साधनों के प्रयोग को कुछ बुरा नहीं मानते, जहां स्वतंत्रता के लिए दूसरों को दास बनाने का रिवाज है, जहां अपने अधिकार के लिए दूसरों के अधिकारों का हनन करना कोई बुरी बात नहीं समझी जाती, जहां एकता के नाम पर परस्पर घृणा फैलाने

से लोग नहीं चूकते, जहां देश के लिए झूठ बोलना सच का दरजा रखता है, जाति के लाभार्थ अत्याचार न्याय माना जाता है, वहां इस कठिन क्षेत्र में उस खुदा के बंदे ने सत्य और न्याय को फिर से सिहासन पर बिठाने का प्रयत्न किया और अपना सकल जीवन इस प्रयास में लगा दिया और इस प्रकार लगाया कि मैदान से उठने से पहले वह हमारी जाति ही सकल मानवता की आत्मा की आवाज बन गयी थी। बेलाग, बेमाल, कड़वी, सताने वाली, व्याकुल रखने वाली, लेकिन हृदय में घर करने वाली आवाज। बड़ी भूल में है वह जो समझता है कि वह आवाज मंद पड़ गयी है। नहीं, वह हमारे राष्ट्रीय जीवन के रोम-रोम में बस गयी है। सत्य के मार्ग पर जब हमारे पग विचलित होंगे तो वह आवाज हमें ललकारेगी। अत्याचार के लिए जब हमारे हाथ उठेंगे तो वह उनको रोकेगी। हम अवश्य ही कभी-कभी इस आवाज को दबाना चाहेंगे। अपने कानों में उंगली डालकर सुनने से बचना चाहेंगे, परंतु वह हमारा पीछा नहीं छोड़ेगी। वह कांटा बनकर हमारे दिल में खटकेगी, हमारी नींद हराम कर देगी और अपने को सुनवाकर, मनवाकर रहेगी। बहरे हो गये तो हम चाहे कुछ और बन जायें, संसार में अच्छी-सच्ची, नेक कौम न बन सकेंगे। खुदा न करे कि हम उस आवाज को दबा सकें।

7

सन् 1947 में अखंड भारत मे जो महाक्राति आयी उससे देश को स्वतंत्रता के साथ-साथ बहुत ही कष्टदायक स्थिति का सामना करना पड़ा। मुस्लिम यूनिवर्सिटी की जड़ें हिल गयी थीं और उसकी दशा दुर्बल हो चुकी थी। उसका बड़ा कारण यह भी था कि स्वतंत्रता से पूर्व मुस्लिम लीग ने जब पाकिस्तान आंदोलन शुरू किया तो उनके नेताओं ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए यूनिवर्सिटी को राजनीतिक अड्डा बना लिया था। फल यह हुआ कि यूनिवर्सिटी में सांप्रदायिकता ने सिर उठाया। स्वतंत्रता प्राप्त हुई तो लीगी नेता असहाय दशा में पलायन का मार्ग अपना चुके थे। उन परिस्थितियों मे स्वाभाविक रूप से यूनिवर्सिटी देश में अपना विश्वास खो चुकी थी। नवाब इस्माईल खां उस समय उपकुलपति थे। वह भी मुस्लिम लीग से संबद्ध होने के कारण सत्ताधारियों की दृष्टि में खटकते थे। परिस्थितियां कुछ ऐसी हो रही थीं कि यूनिवर्सिटी के अस्तित्व को बचाना कठिन प्रतीत होता था। मौलाना आज़ाद और दूसरे हितैषी यूनिवर्सिटी को बचाने के लिए चिंतित थे। उन्हें एक ऐसे मसीहा की आवश्यकता थी, खोज थी जो उस मृतप्राय विद्यालय में नवीन प्राणों का संचार कर सके; एक ऐसा व्यक्ति जिस पर सरकार तथा जनता दोनों विश्वास करते हों। हार-फिर कर सबकी दृष्टि मियां पर जाती थी। मियां के लिए जामिआ को

छोड़ना सरल न था। जिस लघु पौधे को उन्होंने अपने रक्त से सींचा था, उसे छोड़ना बहुत कठिन था। लेकिन उस समय उनकी विद्या-मां संकट में थी। यह उनका वही प्यारा विद्यालय था जिसके सुधार के लिए उन्होंने उसका परित्याग किया था। आज उसे उनकी अत्यधिक आवश्यकता थी। उससे क्योंकर मुख मोड़ते? मियां अलीगढ़ जाने के लिए तैयार हो गये। गिरतों को थामना उनका स्वभाव था और नियति भी। इस प्रकार मियां सन् 1948 में मुस्लिम यूनिवर्सिटी के उपकुलपति नियुक्त हुए। उन्हें इससे जो प्रेम था और जितना अधिक उनके हृदय में सम्मान था वह इस भाषण के शब्द-शब्द से प्रकट होता है जो उन्होंने उपकुलपति पद छोड़ने पर यूनिवर्सिटी में दिया था –

"यह उस दिन का स्मरण इतना अधिक क्यों आ रहा है आज? संभवतः इसलिए कि वहां से ऐसा जीवन आरंभ होता है जिसने 44 वर्षों में अनेक रंग देखे, लेकिन जिसमें इस विद्यालय से निरंतर हार्दिक संबंध रहा, प्रगाढ़ संबंध, न टूट सकने वाला संबंध। यहां बहुत सीखा और अधिक न सीखने पर दुखी होना सीखा। सकल जीवन को यहां के अनंत कार्य का परिशिष्ट बनाने का उत्साह यहीं प्राप्त किया। यहां मित्र मिले, मित्रता का मूल्य पहचाना, मिलजुल कर काम करना सीखा, विरोध के बावजूद निभाने के ढंग सीखे। जीवन के भांति-भांति रूपों को बरतना और परखना सीखा। अपने राष्ट्रीय जीवन के सकल दोष यहां देखे, लेकिन उसके पश्चाताप के अश्रुओं से अपने नेत्र भी सजल पाये। उसकी सभी इच्छाओं एवं कामनाओं के चिह्न भी यहां अपने हृदय में उभरते हुए अनुभव किये। अपनी अपरिपक्व, तीव्र, प्रचंड प्रकृति तथा दुर्भावनाओं पर लज्जित होना सीखा। सूखे पत्तों की भांति एक चिंगारी से ज्वाला की भांति भड़क भी उठे, लेकिन सच्चे कोयले की भांति सुलगते रहने का पाठ भी यहीं सीखा। सामर्थ्य, योग्यता के फूटते अंकुरों के विकास के लिए उनमें जीवन की तीव्र हवाओं से बचने का उपाय, किंतु चरित्र-निर्माण के लिए सामूहिक जीवन की रेल-पेल में शूरतापूर्वक सम्मिलित होने की आवश्यकता भी यहीं अनुभव की। आदर सीखा – बड़ों का आदर, मित्रों का आदर और स्वयं अपना आदर, सौभाग्य और स्वामिभक्ति के साथ स्वाधीन कर्मशीलता के अनुशासन के पालन करने को वास्तविक स्वतंत्रता समझा, लेकिन जब इस व्यवस्था को अंतरात्मा की मांगों से टकराते पाया तो उससे विद्रोह की शक्ति भी इसी जीवन-स्रोत से पायी। विद्रोही बने, निकाले गये। दूसरी बस्ती बसाने में एक चौथाई सदी बितायी, लेकिन इस विद्या-मां की ओर से हृदय में कोई कटुता अनुभव नहीं की। बनवास में भी उसी में हृदय लगा रहा। परिस्थितियां बदलीं, देश स्वतंत्र हुआ, यहां की व्यवस्था में परिवर्तन आया। उत्तरदायित्व के रूप में उसकी सेवा करने का अवसर मिला। अच्छी बुरी जो सेवा हो सकी, की, और आशा थी कि जीवन-भर की परेशानी के पश्चात पागल मस्तिष्क को यहीं सुख-आश्रय मिल जायेगा, लेकिन यह भाग्य में न था।

बिगड़ता स्वास्थ्य कर्तव्य की पूर्ति में बाधक रहा। अंत में कर्तव्य ने प्रेम पर विजय पायी और मैं आपसे विदा हो गया।

"आज हृदय-चषक जगह-जगह से टूटा है। इस पर भी जो यहां से प्राप्त किया उसके लिए कृतज्ञता से भरा हुआ है और उन सभी चूकों पर जो इस प्रिय विद्यालय की सेवा में रह गयीं लज्जा से छलक रहा है। मेरे लिए तो इस विद्या-केंद्र की संबद्धता ही जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार है।"

मियां ने जिस समय उपकुलपति का पद ग्रहण किया, यूनिवर्सिटी की दशा बहुत खराब हो चुकी थी। बहुत से अध्यापक पाकिस्तान जा चुके थे। विद्यार्थियों की संख्या भी बहुत कम हो गयी थी। जो थे वे निराशा में डूबे थे। मियां ने अध्यापकों को सांत्वना दी और यूनिवर्सिटी में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। अच्छे अध्यापकों की कमी को भी इस प्रकार पूरा किया कि होनहार युवकों को प्रोत्साहित किया और अधिकाधिक छात्रवृत्ति दिलाकर यूरोप उच्च शिक्षा के लिए भेजा। और शीघ्र ही अच्छे अध्यापकों का एक वर्ग स्वयं यूनिवर्सिटी में बना लिया।

मियां के अलीगढ़ आने के पश्चात यूनिवर्सिटी का मानचित्र शीघ्रता से बदलना आरंभ हो गया। प्रत्येक कार्य में नियमितता, शिष्टता और सुंदरता झलकने लगी। भवनों, छात्रावास, सड़कों आदि की सफाई और व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। बहुत-से नवीन भवनों का निर्माण हुआ। स्थान-स्थान पर पार्क बने। रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियां प्रत्येक आने वाले का ध्यान आकृष्ट करने लगीं, और यूनिवर्सिटी उपवन बन गयी। इस परिवर्तन का प्रभाव स्वभाव पर भी हुआ। लोगों की सौंदर्यानुभूति बढ़ने लगी। उन्होंने अपने घरों में फूल उगाने शुरू कर दिये। यूनिवर्सिटी की सारी बस्ती पुष्प-वाटिका बन गयी।

रशीद साहब मियां के आने के विषय में एक स्थान पर लिखते हैं – "ज़ाकिर साहब के आते ही एक प्रातः ऐसा प्रतीत हुआ जैसे सकल वातावरण आलोकित तथा रुचिकर हो गया हो।"

उनके समय में यूनिवर्सिटी के अनेक विभागों ने उन्नति, प्रगति की, नये तथा योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति हुई। विज्ञान के महत्व को दृष्टि में रखकर उसे बहुत विकसित किया गया। बहुत-सी अनुसंधान योजनाएं सरकार से स्वीकृत करायी गयीं। इंजीनियरिंग कालेज के लिए नवीन भवनों का निर्माण किया गया। पुस्तकालय का भव्य भवन भी उन्हीं के समय में तैयार हुआ जिसकी आधारशिला पं. जवाहरलाल नेहरू ने रखी। मैडिकल कालेज की बुनियाद भी उन्हीं के समय में डाली गयी, लेकिन भरसक प्रयत्न के बावजूद उनके समय में तैयार न हो सका। कुछ समय के पश्चात यह परियोजना पूर्ण हुई।

उनके कार्यकाल में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। शिक्षा के कामों में वह हर

समय प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करने को तैयार रहते थे और गहरी रुचि लेते थे। कोई अच्छा, सद्कार्य उनके समय में धन के अभाव में नहीं रुका। वह कहीं न कहीं से धन उपलब्ध कराते और यदि न करा सकते तो स्वयं अपनी जेब से देते थे।

उन्होंने विद्यार्थियों एवं अध्यापकों से सीधा संपर्क स्थापित किया था। वह दूसरों को अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अवसर देते थे, और उन्हें समझने का प्रयास करते थे। वह अपने साथियों पर पूर्ण विश्वास करते थे और जहां तक बन पड़ता कभी किसी का हृदय नहीं दुखाते थे; दिल नहीं तोड़ते थे। वह उनकी बुराइयों को नजरअंदाज करके गुणों की खोज में रहते थे। उनका कहना था कि व्यक्ति कितना ही बुरा क्यों न हो उसमें कोई-न-कोई गुण अवश्य होगा – क्यों न उसके उस गुण को काम में लाया जाये, उस से लाभ उठाया जाये ताकि वह समाज में कोई लाभप्रद, कल्याणकारी कार्य पूर्ण कर सके। वह विद्यार्थियों की शिकायतों को खिले माथे सुनते थे। उचित मांगों को पूर्ण करते थे और जो पूर्ण न कर सकते तो इस प्रकार समझाते कि शिकायत करने वाला पूर्णरूप से संतुष्ट हो जाता था। वह जो वचन देते, उसे पूरा करते, जिसके कारण विद्यार्थी तथा अध्यापक दोनों उन पर विश्वास करते थे और यह भी विश्वास रखते थे कि जो निर्णय होगा उनके हित के लिए होगा। दरिद्र विद्यार्थी पर विशेष रूप में उनकी दृष्टि केंद्रित रहती थी। बहुत-से उनके सहारे अपनी शिक्षा जारी रख सके थे। फीस जमा करने के समय उनकी कोठी पर लड़कों का जमघट रहता था। कभी-कभी विद्यार्थी की दीन दशा से अधिक प्रभावित होते तो हम लोगों के सामने भी जिक्र करते। एक विद्यार्थी का प्रसंग सुनाते थे जो अब अमेरिका में रहते हैं और एक सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वह किसी आवश्यकतावश मियां के पास आये। अचकन के बटन खुले हुए थे। अक्सर फैशन में लड़के बटन खुले रखते हैं, और मियां की यह प्रवृत्ति थी कि कभी बटन बंद करने पर उपदेश न देते बल्कि अपने हाथों से उसके बटन लगाने लगते। इस बार भी यही हुआ। मियां को बटन लगाते देखकर लड़का घबरा गया और शीघ्र स्वयं बटन लगाने लगा। लेकिन प्रयत्न करने पर भी किसी प्रकार बटन लग न रहे थे। वास्तव में बटन फैशन में नहीं खोले गये थे, बल्कि अचकन इतनी तंग थी कि बटन लगने का प्रश्न ही न था। शायद इस लड़के के पास यही एक अचकन थी और वह भी इस साइज की। मियां पर इस घटना का बहुत प्रभाव पड़ा। तुरंत अपने सेक्रेटरी को बुलाकर अचकन का नाप दिलवाया और अचकन सिलवाकर उसे भेजी। इस घटना के पश्चात तो उस लड़के से उनके विशेष संबंध हो गये थे। उसकी प्रत्येक जिम्मेदारी को उन्होंने अपने सिर ले लिया था। अब वह अमेरिका में खूब कमा रहे हैं। मियां से पत्र-व्यवहार रहता था। उनकी प्रगति से मियां प्रसन्न होते थे। वह जब भी भारत आते, मियां अपने पास ठहराते और बहुत आवभगत करते।

मियां के अलीगढ़ के कार्यकाल में न केवल भारत, बल्कि दूसरे देशों के प्रतिष्ठित

अतिथि यूनिवर्सिटी में अधिक आये, और बहुत संतुष्ट तथा प्रसन्न होकर गये। बाहर से आने वालों में शाह मसऊद शाह ईरान, साम्राज्ञी सुरैया, इंडोनेशिया के उपराष्ट्रपति व मिस्र के प्रधानमंत्री सम्मिलित हैं। इस विषय में रशीद साहब लिखते हैं – "ज़ाकिर साहब के उपकुलपति होने के पूर्व अपनी कुछ ऐसी दशा थी कि देश या देश से बाहर का कोई व्यक्ति अपनी कला या पंथ का कर्मयोगी सिद्ध आ जाता तो चिंता होती कि अतिथि की संगति या अगुवाई के लिए किस व्यक्ति का चयन किया जाये ताकि हमारी साख बनी रहे और अतिथि प्रसन्न एवं संतुष्ट होकर, इस संस्था के गुणों से परिचित हो कर प्रस्थान करे। लेकिन जब ज़ाकिर साहब आ गये तो एक-एक करके मेरी सभी आस्थाएं सच होने लगीं और एक बार फिर वही कालेज वाली, विद्यार्थी जैसी या बालपन की शक्ति लौटकर आ गयी कि काश! कोई महापुरुष आये और हमें, हमारी संस्था को और हमारे बड़े आदमी को देखे। सात-आठ वर्ष तक ज़ाकिर साहब यहां रहे। जब कभी सुनते कि अमुक बड़ा व्यक्ति आ रहा है और इस अवधि में असंख्य महापुरुष यहां आये तो हृदय प्रसन्न हो जाता था और उत्साह बढ़ जाता था। इसलिए नहीं कि वह महापुरुष था बल्कि इसलिए कि हमें अपनी महानता सिद्ध करने का अवसर मिलेगा। अतः यह विश्वास रहता था कि अतिथि किस दृष्टि से कितना ही महान क्यों न हो ज़ाकिर साहब उससे मिल लिए, वार्तालाप कर लिया तो वह हमारा और हमारी संस्था का, और हम जिस बात का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसका प्रशंसक रहेगा।"

12 नवंबर 1955 को पं. जवाहरलाल नेहरू अलीगढ़ पधारे और उन्होंने यूनिवर्सिटी लायब्रेरी तथा सैफी होस्टल की आधारशिला रखी। इस अवसर पर मियां ने पंडित जी के सम्मान में जो स्वागत भाषण दिया वह उर्दू साहित्य का उत्तम उदाहरण है। कहते हैं –

"कैसी खुशनसीबी है मेरी कि अपने महबूब और मोहतरम पंडित जवाहरलाल नेहरू, प्रधानमंत्री, भारत का यूनिवर्सिटी में खैरमकदम करने का शर्फ मुझे हासिल हुआ है, पर है यह शर्फ खासा मुश्किल। रस्मी खैरमकदम हो तो जैसे-तैसे लफ्जों में अदा हो जाये। जब गर्मी की तपती-प्यासी जमीन पर बरसात की घनघोर घटा मंडराती है तो उसका जर्रा-जर्रा जिंदगी की एक छिपी हुई लहर से दमकने लगता है। पर इस घटा के खैरमकदम के लिए वह लफ्जों से काम नहीं लेती। जब पतझड़ की निष्प्राणता के बाद पौधों की रगों में दौड़ने वाला रस और टहनियों में झिझक-झिझक कर ठिठक-ठिठक कर झांकने वाली कलियां वासंती पवन का स्वागत करती हैं तो उल्लास में भर कर खिल उठती हैं। लेकिन उनका बढ़ता उत्साह स्वागत के लिए शब्द नहीं ढूंढ़ पाता। जब वसंत के काफिले का पहला पक्षी उपवन में पहुंचता है तो सकल उपवन उल्लास में भर कर लहलहाने लगता है, मुस्कराता है, लेकिन कुछ कह नहीं सकता। आदमी नादान ऐसे मौके पर भी इस मशवरे को भूलकर कि –

'निगाहे-शौक मजमूने रंगीं को अदा कर दे' (नयन प्रेमभाव को प्रकट कर देते हैं), शब्दों में कुछ कहना चाहता है और अंत में अपनी विवशता पर लज्जित होता है। मैं भी अपनी सरलता और नादानी में इस सुंदर भाव को शब्दों में प्रकट करने के लिए खड़ा हुआ हूं। लेकिन जानता हूं, कहते नहीं बनेगा, फिर भी विश्वास है कि पंडित जी उसे समझ लेंगे।"

यूनिवर्सिटी के कामों के साथ-साथ मियां को अन्य जिम्मेदारियां भी निभानी पड़ती थीं। वह संसद में राज्यसभा के सदस्य मनोनीत किये गये थे। यूनिवर्सिटी ग्रांट कमीशन (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग), अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू (हिंद) और अन्य संस्थाओं से संबद्ध रहे। उर्दू के पक्ष में हस्ताक्षर-अभियान उन्हीं के सभापतित्व-काल में चलाया गया था। राष्ट्रपति की सेवा में ये हस्ताक्षर प्रस्तुत करते हुए अंजुमन के अध्यक्ष होने के नाते उन्होंने उर्दू के पक्ष में जो भाषण दिया था उसमें अत्यंत स्पष्टता और साहस के साथ उन सभी आपत्तियों का उत्तर दिया गया था जो उर्दू-विरोधी पक्ष की ओर से उठायी जाती थीं। उनके भाषण के कुछ अंश देखिए –

"कैसी विडंबना है कि उर्दू पर, और उर्दू के हामियों पर कोई सांप्रदायिकता का आरोप लगाए! उर्दू किसी संप्रदाय की भाषा नहीं, किसी धर्म की भाषा नहीं, किसी सरकार की चलायी हुई भाषा नहीं है, किसी निश्चित मत की बनावटी, कृत्रिम भाषा नहीं है। यह तो मेल-जोल का फल है। जनता की भाषा है। उन लोगों की भाषा है जिनके दिल को कुछ लगी थी और वे इसे दूसरे लोगों तक पहुंचाना चाहते थे। बाजार में कारोबार में लेन-देन से बनी भाषा है। मंडियों में अन्न के लेन-देन के साथ-साथ विचार-विनिमय का फल है। यह साधु-संतों की भाषा है, जो किसी परंपरा से ऐसे लिपटे हुए न थे कि प्रत्येक नयी बात से भड़क उठें, प्रत्येक नयी शैली से विचलित हों। लोगों से ही नहीं – शब्दों से भी घृणा करें कि यह उनकी भाषा है। यह विशाल हृदय की भाषा है, भाईचारे की भाषा है। प्रेम की भाषा है। इसलिए इसका विस्तृत आंचल है। यह विकसित भाषा है, यह जीवंत भाषा है। इस देश के रहने वालों के हृदय और मस्तिष्क के संबंध का फल है। और उन बसने वालों में हिंदू, मुस्लिम, सिख का कोई भेदभाव नहीं।"

मुस्लिम यूनिवर्सिटी में मियां ने जो सेवाएं की उनमें एक ओर तो उन्होंने उसके शैक्षिक स्वरूप को ठीक किया, उसका स्तर उठाया, और दूसरी ओर विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा को बढ़ाया और उस की खोयी हुई साख वापस दिलायी। जिस समय वहां पहुंचे, उस समय यूनिवर्सिटी की जो दशा थी उस वातावरण में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्होंने यूनिवर्सिटी के वातावरण में से सांप्रदायिकता के विष को साफ किया और देशभक्ति की भावनाएं उभारीं। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि अलीगढ़ में ऐसी शिक्षा-संस्था हो जहां शिक्षा के साथ-साथ प्रत्येक धर्म-संप्रदाय,

रंग-नस्ल, भाषा-प्रांत के लोग मिलजुल कर रहना सीखें और उसका एक आदर्श प्रस्तुत हो। दंगा-फसादियों ने जब यूनिवर्सिटी पर संदेह किया, व्यंग्य-बाण चलाये तो वह उसकी ढाल बन गये, और ऐसा कहने वालों को बड़े साहस से मुंहतोड़ उत्तर दिया और उनकी जुबान बंद कर दी। उन्होंने अपनों को उचित सीमा में बढ़ने की अनुमति नहीं दी, तो दूसरों के अनुचित संदेह व आपत्ति सुनने के लिए भी वह तैयार न थे। यूनिवर्सिटी को बदनाम करने वाले समाचारपत्रों के विषय में उन्होंने कहा –

"मुझे अपनी कौम की मूर्खता पर खेद है कि मेरी जाति का प्रेस इतना अधिक मूर्ख तथा नासमझ है कि वह एक ऐसे शिक्षा-केंद्र को बदनाम करने से भी बाज नहीं आता जिससे देश और जाति को बहुत काम लेना है . . . परिस्थितियां धीरे-धीरे ठीक होंगी। सबसे बड़ी चीज यह है कि हम ऐसे बन जायें कि कोई हमें बदनाम ही न कर सके। फिर बदनाम करने वाले स्वयं ही बदनाम होंगे और हमारा सिर ऊंचा होगा।"

रशीद साहब बहुत सुंदरता से उन परिस्थितियों का उल्लेख करते हैं –

"ज़ाकिर साहब जिस समय उपकुलपति होकर आये, यूनिवर्सिटी देश की व्यथा एवं विषाद से पीड़ित थी। यूनिवर्सिटी में, यूनिवर्सिटी से बाहर, दूर-पास का चाहे जिस प्रकार का व्यक्ति हो जो कुछ मन में आता, सुनाता और हमसे सद्व्यवहार की जमानत लेकर चला जाता। समाचारपत्रों में, विधानसभा, जलसों में हमारी चर्चा होती थी. . . भय और अपमान के दिन अब भी याद हैं। हममें से बहुतों को वह दिन याद होगा जब विनोबा भावे का 'स्ट्रेची हाल' में स्वागत करते हुए ज़ाकिर साहब ने यूनिवर्सिटी के विरुद्ध असत्य समाचार भेजने और फैलाने वालों को डांटा था और किस सच्चाई से, किस आदर से, कितने खरे शब्दों और निर्भय रूप से यूनिवर्सिटी की स्थिति स्पष्ट की थी। ज़ाकिर साहब, सहिष्णुता की मूर्ति विनोबा भावे की उपस्थिति, हाल का चप्पा-चप्पा विद्यार्थियों, अध्यापकगण और नगर के प्रतिष्ठित जनों से भरा होना, काल-स्थान की नजाकत, उपस्थित श्रोताओं पर रहस्यमय शांति–सारांश यह कि विगत 35-36 वर्ष में 'स्ट्रेची हाल' में ऐसी मीटिंग कम-से-कम मेरी दृष्टि में नहीं आयी।

"इस भाषण के पश्चात जब तक ज़ाकिर साहब ने यूनिवर्सिटी से अपने पृथक होने की घोषणा नहीं की, दुर्जन और घृणा करने वालों की वाणी और लेखनी के उपद्रवों से हम और हमारी यूनिवर्सिटी सुरक्षित रही। बल्कि प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक अवसर पर यूनिवर्सिटी के अध्यापकों-छात्रों के विषय में प्रशंसा और गुणगान ही सुना गया। ज़ाकिर साहब के इस एहसान, सेवा और कार्यों का अनुमान कुछ वही लोग लगा सकते हैं जो इस संस्था के पतन और असफलता के वे दिन देख चुके हैं।"

अनेक व्यस्तताओं, अनथक परिश्रम, कठिन प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि

मियां की सहनशक्ति जवाब दे गयी। 1949 में उन्हें हृदयरोग का जोर का दौरा पड़ा, लेकिन अल्लाह को उनसे बहुत काम लेने थे। चार-पांच महीने के निरंतर विश्राम और चिकित्सा से वह स्वस्थ हो गये, और फिर कार्य शुरू कर दिया।

अब उन्हें यूनिवर्सिटी की सेवा करते 8 वर्ष हो चुके थे। इस अवधि में उन्होंने अपने तन-मन की सारी शक्ति यूनिवर्सिटी की सेवा में लगा दी थी। हृदय-रोग ने उन्हें बहुत दुर्बल बना दिया था। उनका हृदय तनिक-सी ठेस भी सहन नहीं कर सकता था। इधर यूनिवर्सिटी में कुछ विरोध होने लगा था। कुछ छोटे-मोटे झगड़े उठते रहते। यद्यपि ये बातें यूनिवर्सिटी के लिए कोई महत्व न रखती थीं, लेकिन उनका मन-मस्तिष्क उन्हें सहन न कर सका और उन्होंने अपनी कार्य-अवधि समाप्त होने से पूर्व ही त्यागपत्र देने का निश्चय कर लिया। लोगों को ज्ञात हुआ तो बहुत प्रयत्न किया कि वह इरादा बदल दें, लेकिन वह नहीं माने। उनके व्यक्तित्व का यह भी एक पहलू था। वह निर्णय बहुत सोच समझकर लेते थे, लेकिन जब निर्णय ले लेते तो फिर संसार की कोई शक्ति उसे कार्यान्वित करने से रोक नहीं सकती थी। अलीगढ़ से जाने से पूर्व एक और दुखद बात हुई; एक अमरीकी पुस्तक 'रिलीजस लीडर' पर कुछ उपद्रव-सा हो गया। उपद्रवियों ने इस समस्या को सांप्रदायिक रंग दे दिया। सांप्रदायिक लोगों तथा समाचारपत्रों ने इसे खूब हवा दी और विश्वविद्यालय को बदनाम किया। मियां को इस घटना से बहुत दुख हुआ जिसे उन्होंने अपने विदाई-भाषण में प्रकट किया –

"मान्य अध्यक्ष महोदय और प्रियजनो–

सर्वप्रथम मैं अपने उस संकोच को स्वीकार करूं जो मुझे यहां आने में था। मैं आपको कष्ट नहीं देना चाहता था, लेकिन मैं इसलिए आ गया कि मेरे न आने से कोई दुर्भावना न उत्पन्न हो जाये। वास्तव में मुझे आने में इसलिए संकोच था कि मैं अपने दुख और निराशा को आपके सामने प्रकट करना नहीं चाहता था जो आपके व्यवहार से हुई। मैं इसलिए निराश हूं कि आपमें अभी तक दृढ़ता नहीं आयी। कोई भी व्यक्ति आपको आकर बहका सकता है। आपको कोई भी उत्तेजित कर आपकी भावना को भड़का सकता है और आपने अपनी भावना के संबंध में विवेक से काम लेना नहीं सीखा है. . . आप स्वतंत्र हैं, आपकी संस्था स्वतंत्र है लेकिन आप स्वतंत्रता का मूल्य चुकाना नहीं जानते। स्वतंत्रता का मूल्य होता है इसके लिए निरंतर प्रयत्न करना। स्वतंत्रता की प्राप्ति जितनी कठिन है इससे अधिक कठिन है उसको कायम रखना। स्वतंत्रता प्रतिदिन प्राप्त की जाती है, उसके लिए प्रतिदिन उसका मूल्य चुकाना पड़ता है। आप प्रतिदिन कोई-न-कोई ऐसा काम करते हैं जिससे आप उस स्वतंत्रता के योग्य अथवा अयोग्य घोषित किये जाते हैं। स्वतंत्रता किसी के पास सदा के लिए नहीं आती। अल्लाह के यहां देर है, अंधेर नहीं।

"आपने जो कुछ किया उसके लिए निश्चित रूप से आपको खेद होगा। मैं यह नहीं कहता कि सब कुछ आपने ही किया। आपने बंगलें बजाई, दूसरे नंगे होकर नाचे। आपने जनाजा निकाला, दूसरों ने कत्ल कर डाले, यानी आपके विरुद्ध कोई व्यक्ति कुछ बात कह दे तो तनिक देर में आप आवेश में आ जाते हैं। कोई भी आपकी समझ को खरीद सकता है, आपकी भावना को भड़का सकता है। आप जुलूस निकालें, जुलूसों में गालियां दें, नारे लगाएं – यह सब आखिर क्या है? ये पढ़े-लिखों जैसी बातें नहीं हैं। बुद्धिमान वह है जो अपनी भावना को अपनी बुद्धि को नियंत्रण में रखे, जिसे अपने विरुद्ध सुनने की आदत हो और जो दूसरों की आपत्तियों का उत्तर ठंडे हृदय से दे सके. . . रसूल अल्लाह हज़रत मुहम्मद पर कोई आपत्ति करे तो उसे मुर्दाबाद कहना कोई अर्थ नहीं रखता। बुद्धि और समझदारी से उसका उत्तर देना चाहिए। आपकी इस संस्था के संस्थापक के समय में सर विलियम मूर ने एक पुस्तक लिखी थी जिसमें अल्लाह के रसूल पर कुछ आक्षेप किये गये थे। सर सैयद अहमद खां ने अपना सारी संपत्ति बेची, अपने घर के बर्तन बेचे, और लंदन की सुदूर यात्रा के लिए निकल पड़े ताकि वहां पहुंचकर सकल सामग्री का अध्ययन करने के बाद एक पुस्तक लिख सकें। वह वृद्ध व्यक्ति थे। इतनी लंबी यात्रा बहुत कष्टदायक थी। वह उस देश की भाषा से भी अनभिज्ञ थे। लेकिन वह वृद्ध मुझसे अधिक रसूल का प्रेमी था। उसने यह सब कुछ सहन किया और एक ऐसी पुस्तक लिखी जो अल्लाह के रसूल के आक्षेपकों के समक्ष आज भी प्रस्तुत की जा सकती है। 'खुतबाते-अहमदिया' अल्लाह के रसूल के जीवन के संबंध में आज भी एक श्रेष्ठ पुस्तक समझी जाती है. . . आक्षेप का उत्तर इस प्रकार दिया जाता है। उसने कोई नारा नहीं लगाया, किसी का जनाज़ा (शव यात्रा) नहीं निकाला, किसी को मुर्दाबाद नहीं कहा. . . अब जो कुछ हो चुका. . . आपको उसका खेद होगा, मुझे भी है। फिर भी मैं आपके साथ हूं, और किया भी क्या जा सकता है। यदि मेरा एक हाथ स्वस्थ न रहे तो दूसरे हाथ से मैं उसे काट तो नहीं सकता। ये आठ वर्ष मैंने जिस उमंग और उल्लास के साथ व्यतीत किए हैं, उसमें आपका भी बड़ा हाथ है। मैं आपका कृतज्ञ हूं, लेकिन अंत में आपने मुझे दूध देते-देते उसमें मक्खी डाल दी।

"मेरी कामना है कि आप भारत के अच्छे नागरिक बनें। आपका स्थान धरती पर नहीं वृक्ष की सबसे ऊंची चोटी पर है। स्थान तो छत पर भी खाली होता है। नीचे तो व्यक्ति गंदगी में, छोटे-छोटे संघर्षों में, मनमुटाव और तुच्छ कामों में फंस कर रह जाता है। आपको संकल्प करना चाहिए कि आप अपने विश्वविद्यालय को भारत का सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय बनाने से पूर्व चैन न लेंगे।"

अंत में आठ वर्ष विश्वविद्यालय की सेवा करने के पश्चात वहां के उत्तरदायित्व

से वह मुक्त हुए और दिल्ली में (ओखला) अपने घर वापस आ गये।

विश्वविद्यालय की वार्षिक रिपोर्ट में उनकी सेवाओं को निम्न शब्दों में सराहा गया –

"उन्होंने साहस के साथ परिस्थितियों का सामना किया। अपने विश्वास, अपने सहयोगियों तथा छात्रों के दृढ़ विश्वास के साथ उस नौका को भंवर से निकालने में सफल हुए। उद्देश्यप्रियता, शैक्षिक समस्याओं पर गहरी दृष्टि, अध्यापकों और छात्रों की कठिनाइयों पर सहानुभूतिपूर्ण चिंतन-मनन और सभी समस्याओं में मानवीय दृष्टि रखकर विश्वविद्यालय के छात्रों और अध्यापकगण के लिए उत्साह एवं उमंग का साधन बने रहे. . . विधानसभा (कौंसिल) बहुत ही प्रेम तथा कृतज्ञता से सदा डा. ज़ाकिर हुसैन की असीम सेवाओं का स्मरण करेगी और उनके दृष्टिकोण के लिए अथक संघर्ष जारी रखेगी।"

विश्वविद्यालय की एक प्रतिनिधि पत्रिका 'अलीग' ने लिखा –

"ज़ाकिर साहब ने इस संस्था को नया जीवन, नयी दिशा, नयी बुद्धि दी, सोचने की नयी प्राणवान शैली प्रदान की। प्रेम, निःस्वार्थ समाज सेवा का पाठ मन में रचाया। छोटे स्तर पर अलीगढ़ को स्वतंत्र भारत का आदर्श मानकर उसमें कार्य करने की शैली सिखायी। त्याग, सहानुभूति, किसी वस्तु में टेढ़ापन न सहन करने का स्वभाव, सच के लिए सब कुछ त्यागने की भावना, मृत्यु को जीवन में बदलने का उत्साह, दूसरों से बढ़ चढ़ कर कार्य करने की लगन, आदर, सम्मानपूर्ण जीवन की उमंग और असंभव को संभव बनाने का साहस. . . इन सबने इस ऐतिहासिक संस्था को दूसरा जन्म दिया। और कुछ वर्षों में इतना कुछ दिया जो पहले आधी शताब्दी में भी न हो पाया था।"

8

अलीगढ़ से आने के पश्चात कुछ दिनों तक जामिआ नगर में ठहरे। यहां कुछ दिन ही रहे थे कि जर्मनी और स्विटजरलैंड में कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए जाना पड़ा। यह यात्रा उनके स्वास्थ्य के लिए लाभदायक सिद्ध हुई, क्योंकि उस दौरान अन्य व्यस्तताओं के साथ-साथ उन्हें अपनी चिकित्सा कराने का अवसर भी मिल गया। इसी अवधि में मौलाना आज़ाद ने राज्यपाल का पद पेश किया। लेकिन उन्होंने इंकार कर दिया। जर्मनी में ही थे कि पं. जवाहरलाल नेहरू का पत्र पहुंचा जिसमें उन्होंने लिखा कि वह राज्यपाल के लिए मियां का नाम प्रस्तावित कर चुके हैं, इंकार बिल्कुल न करें। मियां, अंत में, उनकी बात न टाल सके और उन्हें यह पद स्वीकार करना पड़ा और इस प्रकार वह 1957 में बिहार के राज्यपाल नियुक्त

हुए। बिहार में राज्यपाल के रूप में मियां 5 वर्ष रहे। उनके जीवन का यह काल किसी सीमा तक संतोष और चैन का था। नियमित जीवन था – बंधा बंधाया, जिसमें प्रत्येक कार्य करने का समय निश्चित था। यहां उन्हें वह शारीरिक विश्राम मिल सका जिसकी उनके शरीर और स्वास्थ्य के लिए अत्यधिक आवश्यकता थी, और जो उनके भागदौड़ के जीवन में असंभव था। इसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा पड़ा। राज्यपाल के रूप में उनका अधिक समय जलसों-सम्मेलनों की अध्यक्षता, विभिन्न संस्थाओं के उद्घाटन और मिलने वालों से मिलने-जुलने में बीतता था। लेकिन ऐसा न था कि शैक्षिक विषयों में उनकी रुचि समाप्त हो गयी हो, या कम हो गयी हो। वह बिहार विश्वविद्यालय के शैक्षिक विषयों में निरंतर परामर्श-सुझाव और सहायता देते रहे और अनेक बार उनके कारण बड़ी-बड़ी उलझनें सरलता से सुलझ गयीं। इस अवधि में उन्होंने व्याख्यान और विश्वविद्यालय के दीक्षांत भाषण भी दिये जो पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। अलीगढ़ से आने के एक वर्ष पश्चात अलीगढ़ विश्वविद्यालय की ओर से दीक्षांत भाषण देने का निमंत्रण दिया गया। अलिगढ़ बुलाता और वह न जाते! भला यह कैसे हो सकता था! वह गये और अपना वह प्रभावोत्पादक भाषण पढ़ा जिसका कुछ अंश पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। यह भाषण अलीगढ़ के इतिहास में सदा स्मरण रहेगा। उसके वाक्य के वाक्य बल्कि प्रत्येक अनुच्छेद लोगों ने कंठस्थ कर लिया था।

इसके अतिरिक्त मियां को प्रति वर्ष बिहार विधानसभा का अभिभाषण भी देना पड़ता था जिसमें बिहार राज्य की सरकार की स्थिति और उसके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला जाता था। पटना में प्रवास के समय स्वाभाविक रूप में खुदाबख्श पुस्तकालय उनके ध्यान का केंद्र रहा। यह पुस्तकालय संसार की दुर्लभ पुस्तकों के प्रसिद्ध पुस्तकालयों में गिना जाता है। उन्हीं दिनों उन्होंने दसना का दौरा किया। वहां का प्रसिद्ध पुस्तकालय दयनीय स्थिति में पड़ा हुआ था। उसकी बहुमूल्य निधि के नष्ट होने की आशंका थी। मियां ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और उस पुस्तकालय को खुदाबख्श पुस्तकालय को हस्तांतरित करने पर सहमत किया।

राज्यपाल के रूप में उनका वास अधिकतर पटना के राजभवन में रहता था, लेकिन ग्रीष्म काल में कुछ महीनों के लिए रांची भी जाते थे, जहां का मौसम बहुत सुहाना होता है। रांची का राजभवन पटना के राजभवन जितना बड़ा तो न था, लेकिन था बहुत सुंदर, विशेषकर वहां का उद्यान। जलवायु की अनुकूलता और उद्यान की अच्छी देखभाल के कारण उद्यान की सुंदरता में वृद्धि हो गयी थी। मियां को यह स्थान बहुत प्रिया था। उनकी उद्यानों के प्रति रुचि इस सीमा तक पहुंच चुकी थी कि वह जहां कहीं अच्छे उद्यान के विषय में सुनते तो चाहे वह पुष्पों का उद्यान हो या फलों का उनकी इच्छा होती कि वह उसे अवश्य देखें। लोगों को उनकी रुचि का ज्ञान होता तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता से आमंत्रित करते। मुझे याद है, जब वह रांची

में जीलानी साहब का उद्यान देखने गये थे तो मैं भी साथ थी। पटना के खान बहादुर सैयद हसन साहब से उनकी मित्रता का आधार यही शौक था। पटना राजभवन के उद्यान का तो उन्होंने रूप ही बदल दिया था। उद्यान का एक विशेष भाग गुलाबों के लिए था। उसमें नाना प्रकार के गुलाब एकत्रित किये गये थे और उनकी क्यारियों आदि को एक विशिष्ट शैली में बनाया गया था। यह भाग इतना सुंदर और आकर्षक हो गया था कि दूर-दूर से लोग देखने आते थे।

जहां तक मियां के पारिवारिक जीवन का, रहन-सहन का संबंध है उसमें तनिक भी अंतर नहीं आया। वह सीधा-सरल था, वही नम्रता, वही नैतिकता। वह उस भव्य भवन में ऐसे रहते थे जैसे किसी होटल में कुछ दिन के लिए ठहर गये हों। वह बहुधा वहां की पाबंदियों से घबरा जाते थे। हर समय एडीसी., सेक्रेटरी आदि के साथ रहने से उन्हें उलझन होती। लेकिन नियम की पाबंदी भी आवश्यक बात है, जिसका उल्लंघन उन्हें मान्य न था। बिहार के लोगों पर उनकी नैतिकता और सरलता का इतना प्रभाव था कि आज तक वह उन्हें नहीं भूले।

बिहार के प्रवास-काल में हम लोग यानी परिवार वालों ने यह महसूस किया कि अब मियां हमारी पहुंच से बाहर नहीं हैं। प्रत्येक कार्य का समय नियत था। इसलिए भोजन भी समय पर किया जाता था और हम सब साथ ही खाते थे। उस समय मियां बड़ी मजेदार बातें किया करते थे और बच्चों को अनेक प्रकार की कहानियां सुनाते, शेर पढ़ते और बहुत हास-परिहास की बातें करते। इसके अतिरिक्त भी हम लोगों को काफी समय देते। मैं समझती हूं कि हम लोगों के जीवन का यह उत्तम दौर था, क्योंकि इतना अवकाश मियां को कभी प्राप्त नहीं हुआ, न वह हमें इतना समय दे सके।

इस प्रकार 5 वर्ष बिहार में बीते। फिर अवधि समाप्त हुई। सन् 1962 में तीसरा आम निर्वाचन हुआ, जिसमें कांग्रेस को ही बहुमत प्राप्त हुआ। कांग्रेस की सरकार बनी और पंडित नेहरू ने मियां के लिए उपराष्ट्रपति और डा. राधाकृष्णन के लिए राष्ट्रपति पद का प्रस्ताव रखा, जो बहुमत से स्वीकृत हो गया। 7 मई 1962 को मियां के उपराष्ट्रपति नियुक्त होने की घोषणा की गयी। मैं उस समय दिल्ली में ही थी। 13 मई को मियां हमारी माता और मेरे बच्चों के साथ दिल्ली पहुंचे, जहां परिवारजन तथा मित्रों और अन्य लोगों ने उनकी अगुआई की। मियां वहां से सीधे राष्ट्रपति भवन पहुंचाये गये। वहीं उन्हें ठहराया गया। माताजी और बच्चे मेरे साथ अपने मकान जामिआ नगर आ गये। कुछ दिन बाद मौलाना आज़ाद रोड पर कोठी नं. 6 उनके लिए निश्चित की गयी जिसमें सब चले गये। इस कोठी में केवल सामने के सिवाय और कोई उद्यान न था, न फुलवारी, न पौधे। मियां की सौंदर्यप्रियता ने देखते-देखते कुछ ही महीनों में कोठी के चप्पे-चप्पे पर आकर्षक उद्यान के लिए

वृक्षारोपण शुरू करा दिया। चारों ओर फूलों की छटा फैल गयी। मियां प्रतिदिन गया प्रसाद माली के साथ उद्यान की देखभाल करते, और फूलों-पौधों के विषय में निर्देश देते। उसी समय उनका विभिन्न प्रकार के पत्थर जमा करने का शौक भी बढ़ता रहा। एक दिन मैंने उनसे पूछा – "मियां, दो विरोधी वस्तुएं यानी पत्थर और फूल किस प्रकार एक ही समय में आपकी दृष्टि का केंद्र बन सकते हैं?" वह मुस्कराये, और कहा कि इन दोनों का अपना-अपना महत्व और स्थान है, केवल उसको समझने की आवश्यकता है – फूल अपने अल्प जीवन में दूसरों की प्रसन्नता, आनंद का कारण बनता है, लेकिन उसकी ताजगी, सुगंध, सुंदरता शीघ्र ही छिनकर निराश कर देती है। पत्थर की विशेषता यह है कि यह कभी निराश नहीं करता, एक ही रूप में रहता है, और आवश्यकता पड़े तो मारने के काम भी आ सकता है। दिल्ली आने पर मियां की व्यस्तता कुछ और बढ़ गयी और परिवार के साथ समय बिताने के अवसर कम हो गये। उन्हें बच्चों से बहुत प्रेम था, इसलिए कुछ न कुछ समय निकाल लेते थे। मेरे बच्चों से उन्हें बड़ा लगाव था। जब तक दिन में दो-चार बार उनके पास न आ जाएं, वह व्याकुल हो जाते थे। अक्सर ऐसा हुआ है कि मैंने अपने बच्चों को डांटा है कि उनके मुख्य कमरे में न जाया करें ताकि विश्राम में बाधा न पड़े। यह बात उन्हें बच्चों से ज्ञात हो गयी तो वह मुझ पर नाराज हुए – "ये मेरे आराम का कारण हैं, उन्हें न रोको। तुम्हें ज्ञात नहीं कि हमारे रसूले-पाक के नाती सजदा में उनके कंधों पर बैठ जाते तो आप केवल इसलिए सजदा न करते कि कंधे से बच्चों को हटना पड़ेगा। जरा सोचो तो, बच्चे न आएं तो मुझे कितनी निराशा होगी।" मैं, और मेरी बहन विवश हो जातीं और मौन धारण कर लेतीं। बच्चे कमरे में उधम मचाते, और वह उसी दशा में बड़े संतोष के साथ अपने अध्ययन में लीन रहते। उन्हें न केवल हमारे बच्चों से बहुत प्रेम था, बल्कि कोठी के किसी कर्मचारी, माली, चौकीदार के बालक, या बालिका की बीमारी के बारे में सुन लेते तो बेचैन हो जाते, और जब तक स्वयं जाकर बीमार बच्चे को न देख लेते और यह तसल्ली न कर लेते कि दवा तथा भोजन का सब प्रबंध हो गया है तब तक संतुष्ट न होते। अक्सर कहा करते थे कि मैं उस दिन समझूंगा कि हमारा देश स्वतंत्र और संपन्न है जब प्रत्येक बालक स्कूल जा सके, उसके पास साफ सुथरे कपड़े हों, पैरों में जूता हो और उसे वह भोजन मिल सके जो एक बच्चे के लिए आवश्यक है।

13 मई 1962 को संसद के केंद्रीय कक्ष में मियां ने उपराष्ट्रति के रूप में शपथ ग्रहण की। उस अवसर पर डा. राजेंद्र प्रसाद ने, जो अवकाश प्राप्त कर रहे थे, अपने भाषण में राष्ट्र को बधाई दी कि उसने डा. ज़ाकिर हुसैन जैसे योग्य इंसान को निर्वाचित किया है और कहा –

"वह एक महान विद्वान, रचनात्मक दृष्टि-संपन्न और उच्च कोटि के शिक्षाविद् हैं। वह सार्वजनिक सेवा के विभिन्न क्षेत्रों का व्यापक अनुभव लेकर इस नये कार्य

को पूर्ण करने आये हैं, जो राष्ट्र ने आज उन्हें सौंपा है। मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूं।"

उपराष्ट्रपति के ऊपर अन्य कामों के अतिरिक्त सबसे प्रमुख उत्तरदायित्व राज्यसभा की अध्यक्षता थी जो बहुत सहनशीलता का काम होता है, जिसमें भांति-भांति के लोगों से संपर्क होता है। भारत में जैसी राजनीति है उसके कारण संसद में पक्ष-विपक्ष के आक्रमणों के मध्य अध्यक्ष को वातावरण सामान्य रखने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसके लिए अत्यधिक सहनशक्ति तथा गभीता अपेक्षित है। ये सभी गुण ऐसे थे जिनकी मियां में कोई कमी न थी। उन्होंने इस उत्तरदायित्व को बड़ी सफलता से पूर्ण किया। अतः जब वह इस उत्तरदायित्व से मुक्त हुए तो विपक्षी दल के सदस्य भी उनकी प्रशंसा किये बिना न रह सके। उपराष्ट्रपति का एक प्रमुख उत्तरदायित्व यह भी है कि यदि राष्ट्रपति बीमारी या अन्य किसी कारण से अपने कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ हों तो उपराष्ट्रपति उसके दायित्व पूर्ण करे। डा. राधाकृष्णन 1964 में बीमार हुए तो मियां ने अस्थायी रूप से राष्ट्रपति के कर्तव्य पूर्ण किये और संसद का उद्घाटन भाषण दिया।

उपराष्ट्रपति के रूप में दिल्ली में उनका समय बड़ी व्यस्तता में बीतता था – राज्यसभा का उत्तरदायित्व, विभिन्न संस्थाओं के उद्घाटन, सामाजिक उत्सव, समारोह, भेटें सब चलती रहतीं। विश्राम के लिए अवसर न मिलता। इसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ता रहा।

उपराष्ट्रपति के रूप में उन्होंने अनेक देशों का भ्रमण किया– सूडान, इथोपिया, संयुक्त अरब गणराज्य, तुर्की, अलजीरिया, कुवैत आदि। उन सभी स्थानों पर उनका भव्य स्वागत किया गया। जहां भी गये लोग उनके भक्त और प्रेमी हो गये। उनके मोहक व्यक्तित्व से भारत और उन देशों की मैत्री पर अच्छा प्रभाव पड़ा। 1965 में जब सऊदी अरब के दौरे पर गये तो मदीना मुनव्वरा भी गये। मस्जिद-ए-नबवी में हाजिरी दी। शाह के विशिष्ट व्यवहार के कारण पवित्र मज़ार के अंदर जाकर ज़ियारत की (जिसकी अनुमति सामान्य रूप में नहीं है)। 'उमरा' किया और मस्जिद-ए-अकसा बैतुल मुकद्दस और मस्जिद-ए-उमर भी देखी। अरब देशों के अतिरिक्त उपराष्ट्रपति के रूप में उन्होंने कुछ एशिया के देशों जैसे अफगानिस्तान, कंबोडिया, थाईलैंड, मलाया, सिगापुर आदि का दौरा भी किया। काबुल में उनका भव्य स्वागत किया गया। यहां वह खान अब्दुल गफ्फार खां से भी मिले। काबुल की सार्वजनिक सभा में जो भाषण उन्होंने दिया, वह अंग्रेजी में था, जिस पर वहां के लोगों ने बहुत प्रसन्नता प्रकट की।

29 अप्रैल 1967 को अमेरिका के मिशीगन विश्वविद्यालय ने उन्हें एक सौ पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर आमंत्रित किया था। उस अवसर पर उन्होंने दीक्षांत

भाषण दिया। यहां उन्हें मानद उपाधि भी प्रदान की गयी जो एक बहुत बड़ा सम्मान समझा जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विश्वविद्यालयों में जो अभिभाषण दिये वे शिक्षा-जगत में विशेष महत्व रखते हैं। जब प्रथम भारत-पाक युद्ध (1965) शुरू हुआ, मियां उपराष्ट्रपति थे। पंडित जी के निधन के पश्चात सांप्रदायिक लोगों की बन आयी। उन संकीर्ण बुद्धि के लोगों ने बहुत सिर उठाया और युद्धकाल में तरह-तरह के दंगे व्यापक रूप में देखने में आने लगे। उस अवसर पर उन्होंने बहुत अधमता, कमीनेपन का उदाहरण प्रस्तुत किया और जहां सामान्य मुसलमानों को तंग किया गया, वहां मियां के विषय में भी बहुत-सी अफवाहें उड़ायी गयीं, लेकिन साधुवाद और शाबाशी है उनके साहस को कि कभी शिकायत का कोई शब्द उनके मुख से सुनने में नहीं आया!

9

उपराष्ट्रपति के रूप में ये पांच वर्ष अत्यधिक व्यस्तता में बीते– ऐसी व्यस्तता कि कई-कई दिन घरवालों से भेंट न हो पाती। अक्सर खास मिलने वाले, या मित्र, प्रियजन मिलना चाहते तो उन्हें नाश्ते के समय बुलाते, क्योंकि यही समय दूसरे लोगों से बचा हुआ होता। कभी यदि दो कार्यक्रमों के मध्य 5-7 मिनट का समय होता तब भी किसी न किसी की भेंट उसमें लगा दी जाती। अब मियां महसूस करने लगे थे कि यह काम वह और अधिक समय तक जारी न रख सकेंगे। सबसे अधिक कष्टदायक काम उनके लिए राज्यसभा की अध्यक्षता थी। अवधि समाप्त होने से पूर्व ही उन्होंने निश्चय कर लिया था कि दूसरा कार्यकाल स्वीकार न करेंगे और जामिआ नगर में अपने मकान में आराम से जीवन व्यतीत करेंगे। लेकिन भाग्यविधाता को कुछ और ही मंजूर था। उस समय चौथे आम चुनाव शुरू हुए। कांग्रेस को उस चुनाव में बहुत धक्का लगा। केंद्र में तो किसी-न-किसी प्रकार कांग्रेस सत्ता में आ गई लेकिन प्रांतों में सफल न हो सकी। निर्वाचन के पश्चात राष्ट्रपति के चुनाव का प्रश्न आया। अब तक तो यह चुनाव केवल रस्मी हुआ करता था। कांग्रेस बहुमत में थी और जिसे चाहती थी राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति बना सकती थी। लेकिन अब वस्तुस्थिति बिल्कुल भिन्न थी। मियां का नाम कांग्रेस की ओर से राष्ट्रपति के लिए प्रस्तावित किया गया, जिस पर विरोधी दल सहमत न थे। मुकाबला कठिन था। विरोधी दलों ने विरोध करने में कोई कमी न छोड़ी और राष्ट्रपति के चुनाव की गरिमा को मिट्टी में मिला दिया, और उसे साधारण निर्वाचन के स्तर पर ले आये। असत्य वचनों से पूर्ण तुच्छ प्रचार किये गये। उनके पाक-साफ व्यक्तित्व पर अनेक प्रकार के असत्य दोष लगाये गये। उनके दिल को चोट पहुंचायी गयी और ओछेपन

की कोई सीमाएं न रहीं। लेकिन सहनशीलता की साकार मूर्ति के माथे पर बल तक न पड़ा। उन्होंने प्रत्येक अपशब्द का उत्तर मुस्कान के साथ दिया। उनके व्यक्तित्व के इस गुण का वर्णन आनंदनारायण मुल्ला ने अपने इस शेर में सुंदर ढंग से किया है –

कोई दुश्नाम[1] में आया था लिए लब[2] पे सुरूर[3],
संग-ओ-आहन[4] की दुकानों में लिए दिले-साकी।

चांद को थूका मुंह पर आता है, विरोधियों ने देख लिया। उनका प्रत्येक वार मियां के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। इधर निर्वाचन का हंगामा जारी था, उधर मियां की अनासक्ति की यह दशा थी कि वह मिशिगन विश्वविद्यालय का अभिभाषण देने गये थे। लोग उखाड़-पछाड़ में लगे थे और वह शांति से अपने कर्तव्य पूरे कर रहे थे। एक अखबार वाले ने उस दौरान में भेंट करके जब मियां के उन दोषों के विषय में पूछा जो लोगों ने लगाये थे तो उन्होंने अपनी विशेष शैली में मुस्कराकर कहा कि अल्लाह का शुक्र है कि उन्हें मेरे केवल तीन धब्बे दिखाई पड़े।

अंततः निर्वाचन समाप्त हुआ, मतगणना का समय आया। हर तरफ बड़ी प्रतीक्षा थी। सारा देश परिणाम पर कान लगाये हुए था। अखबार के कार्यालयों पर लोगों का जमघट, जगह-जगह लोगों की भीड़, मिनट-मिनट की खबरें मालूम की जा रही थीं। हम लोग भी बड़ी बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहे थे। लेकिन मियां के संतोष और शांति में बाल बराबर भी अंतर नहीं आया। प्रतिदिन की भांति आज भी नित्यकर्म जारी थे। दोपहर का भोजन किया और कुछ देर विश्राम करने लेटे। कुछ ही देर लेटे होंगे कि कुछ लोग परिणाम घोषित होने से पूर्व ही कोठी पर एकत्रित होना शुरू हो गये। संसद के बाहर एक जमघट था जिसने घोषणा सुनते ही 'ज़ाकिर हुसैन ज़िंदाबाद' के नारे लगाने शुरू कर दिये थे। मैंने उस समय ज़ुहर (दो पहर के समय की नमाज़) समाप्त की थी कि मेरे कानों में ये प्राणदायक नारे पड़े। अल्लाह का शुक्र अदा किया। कुछ देर बाद आकाशवाणी से भी घोषणा की गयी। लोगों के हर्ष की कोई सीमा न थी। सानंद कोठी पर एकत्रित होने लगे। मुबारक, सलामत की ध्वनि से वातावरण गुंजित हो उठा। गली कूचों में लाउडस्पीकर से घोषणा होने लगी। लोग एक-दूसरे से गले मिलने लगे, मानो ईद या त्योहार का दिन हो। बधाई देने वालों में सर्वप्रथम श्रीमती इंदिरा गांधी आयीं। फिर तो लोगों का क्रम जारी हो गया। मंत्री, सांसद, मित्र, फोटोग्राफर, प्रेस के लोग सबने मियां को घेर लिया, और हर्षोल्लास में अखबार वाले इतने बेसुध हो गए कि ज़नाने ड्राइंग रूम में घुस आये। यहां मियां कुछ मिनटों के लिए ही आए थे। उस जगह हमारी माता जी और दूसरी महिलाएं उपस्थित थीं। श्रीमती रक्षाशरण जी ने तुरंत अम्मा जी को मियां के बराबर

---

1. गाली, अपशब्द, 2. अधर, 3. नशा, 4. लोहा और पत्थर

खड़ा कर दिया और अखबार वालों ने तपाक से चित्र ले लिया। यह बात इतनी शीघ्रता से हुई कि अम्मा कुछ समझीं, कुछ न समझीं। जब वह चित्र अखबारों में छपा तो अम्मा ने बड़ी सादगी से कहा – "इन मुए अखबार वालों ने मेरी तस्वीर खींच ली।" अम्मा का अब तक सख्त पर्दा रहा। ऐसा, यह पहला अवसर था।

इस प्रकार मियां बड़ी प्रतिष्ठा के साथ सफलता की मंज़िल की ओर बढ़े। उस सबसे बड़ी पदवी पर, जिसे बादशाह ही कहना चाहिए, आसीन होकर अपनी फकीरी का रंग सुरक्षित रखा, बिल्कुल उसी प्रकार, जिस प्रकार उन्होंने अपनी फकीरी में राज किया था – दिलों पर बादशाहत व प्रेम की हुकूमत!

उस अवसर पर अखबार वालों ने खूब लिखा; 'इंडियन एक्स्प्रेस' के शब्दों में – यह न्याय और बुद्धिमानी की विजय है। पांच वर्ष तक उपराष्ट्रपति रहने और उस पद के उत्तरदायित्व को उत्तम रीति से पूर्ण करने के कारण वह राष्ट्रपति पद के लिए उपयुक्त प्रत्याशी और उसके योग्य थे। उनकी उपेक्षा करना न केवल अन्याय होता, बल्कि यह भी प्रकट होता कि एक अल्पसंख्यक व्यक्ति होने के कारण जानबूझकर उन्हें उपेक्षित किया गया। प्रसन्नता इस बात की है कि न्याय और विवेकशीलता की विजय हुई। और जीत भी बहुत महान, शानदार और संतोषप्रद।" अपने देश के अतिरिक्त विदेशों में भी उनकी विजय पर आनंद मनाया गया, और वहां के समाचारपत्रों ने भी प्रशंसा की।

'टाइम्स आफ इंडिया' (नयी दिल्ली) ने लिखाः वह अपने पद के लिए बुद्धि और चारित्रिक गुण साथ लाये जिन्होंने उनको अपने कर्त्तव्य पूर्ण करने के लिए पूर्ण रूप से सन्नद्ध कर दिया है। निर्वाचित प्रतिनिधियों की अधिकता ने डा. ज़ाकिर हुसैन का चयन किया और दूसरों ने श्री सुब्बाराव को मत दिये तो इसका अर्थ यह नहीं कि मतदाताओं ने किसी विशेष सिद्धांत, धर्मनिरपेक्षता या किसी बात के अधीन ऐसा किया, बल्कि इसलिए कि वह प्रत्याशी जिसको उन्होंने मत दिया, उनके निकट हर दृष्टि से उचित था।

राष्ट्रपति बनने के पश्चात राष्ट्र को जो उन्होंने संदेश दिया उसमें उन्होंने कहा – "मैं यही कहूंगा कि हम उत्तम, भरे-पूरे, सम्मानित समाज की संरचना के लिए प्राणपन से जुट जाएं। हमें कम बोलना चाहिए, कम झगड़ना चाहिए और अधिक परिश्रम से काम करना तथा मिलजुल कर रहना चाहिए।"

'इंडियन एक्सप्रेस' के संवाददाता ने जब उनके विषय में जानकारी प्राप्त करनी चाही तो उन्होंने कहा – "मैंने अपने जीवन में कभी नया काम नहीं तलाश किया, क्योंकि मेरे निकट इसमें प्रयत्न नहीं था, सिवाय इसके कि मैंने शुरू में अपने आपको शिक्षा से जोड़ने का निर्णय लिया था। कभी अपने जीवन के विषय में स्वयं निर्णय नहीं लिया। मैं अलीगढ़ इसलिए गया था कि पं. नेहरू और मौलाना आज़ाद चाहते

थे कि मैं वहां जाकर स्थिति को ठीक करूं। मैंने वहां दो कार्यकाल बिताये। आठ वर्षों के पश्चात अपने बिगड़ते स्वास्थ्य के कारण त्याग पत्र दे दिया तो मैं यह समझता था कि मैं अवकाश प्राप्त कर रहा हूं। मेरा ओखला में मकान मौजूद था, रहने की कोई कठिनाई न होती।" संवाददाता ने जब यह पूछा कि आपके निकट अच्छा और सफल जीवन कैसा होना चाहिए, तो उन्होंने उत्तर दिया – "जीवन में सबसे अधिक संतोषप्रद बात यह है कि आदमी अपने साथी इंसानों की सेवा कर सके और उसके हृदय में यह विश्वास हो कि वह घटिया काम नहीं कर रहा है – यह है मेरा दृष्टिकोण अच्छे जीवन के विषय में।"

उनकी सफलता पर देश और विदेश से अनेक बधाइयां आयीं जिनमें कुछेक ये हैं –

श्रीमती इंदिरा गांधी : जीवन भर लगन के साथ सेवा ने उन्हें अपने राष्ट्र का प्यार, आदर, शुभकामनाएं दी हैं। मैं आज बहुत प्रसन्न हूं। वास्तविकता स्वयं मुखर है।

कामराज : कांग्रेस के द्वारा जनसाधारण ने धर्मनिरपेक्षता पर अपने दृढ़ विश्वास को प्रकट किया है।

मौलाना असद मदनी : इससे प्रकट होता है कि देश के निर्वाचित प्रतिनिधि किसी समस्या पर योग्यता पर आधारित निर्णय करने का सामर्थ्य रखते हैं।

अटल बिहारी वाजपेयी : अब विरोध समाप्त होने चाहिए। वह सम्मान और बधाई के अधिकारी हैं।

12 मई 1967 को संसद के केंद्रीय कक्ष में (हाल में) जहां पांच वर्ष पूर्व मियां ने उपराष्ट्रपति के पद की शपथ ली थी आज उन्हें उसी स्थान पर भारत के सर्वोच्च पद की शपथ लेनी थी। शपथ लेने की परंपरा मुख्य न्यायधीश एन. वांचू की उपस्थिति में पूर्ण की गयी। 21 तोपों की सलामी दी गयी। उस समारोह में प्रधानमंत्री, मंत्रीगण, सेना के तीनों अंगों – थल, जल, वायु के अध्यक्ष, विदेशी राजदूत उपस्थित थे। शपथ ग्रहण करने के उपरांत उन्होंने अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण में कहा – "सकल भारत मेरा घर है और इसमें रहने वाले मेरा परिवार हैं।" भाषण का यह वाक्य उनके जीवन का बड़ा तथ्य है, वास्तविकता है और जो आज उनके व्यक्तित्व का एक अंग बन चुकी है। शपथ लेने के पश्चात राष्ट्रपति भवन की छह घोड़ों की बग्घी में सवार हुए, साथ में रक्षा सचिव और ए. डी. सी. थे। बग्घी के आगे-आगे राष्ट्रपति के अंगरक्षक सजीले युवक घोड़ों पर सवार थे। इस प्रकार वह राष्ट्रपति भवन के अंदर दाखिल हुए। वहां प्रतीक्षा कर रहे अंगरक्षक दल ने सलामी दी, फिर मियां आगे बढ़े। रक्षा उपसचिव और दूसरे ए. डी. सी. स्वागत के लिए खड़े थे। उन्होंने 'शुभागमन' कहा और वह राष्ट्रपति भवन के एक कमरे में जिसका नाम 'मार्निंग

रूम' है, पहुंचाये गये। यहां राष्ट्रपति भवन के सारे स्टाफ से उनका परिचय कराया गया और उसके बाद मियां भवन के उस भाग में आये जो स्वयं उनके परिवार के लिए निश्चित किया गया था।

12 मई 1967 का दिन वह दिन था जब राष्ट्रपति भवन में एक नूतन अध्याय आरंभ हो रहा था। आज उसकी शानदार इमारत अपनी पूर्ण सजधज और सुंदरता के साथ उनका अभिनंदन करने के लिए उत्सुक खड़ी थी। और अपने भाग्य पर गर्वित थी कि आज वह एक राजा के रूप में फकीर को अपने हृदय में स्थान दे रही थी। आइये, इस शानदार इमारत के विषय में जिसने अंग्रेज जैसी प्रतिष्ठित जाति का उत्थान-पतन देखा था, कुछ ज्ञान प्राप्त करें।

यह अंग्रेजों के युग में बनी। इसे पहले 'वाइसरीगल लॉज' कहा जाता था। वास्तव में यह इंग्लैंड के वाइसराय का महल था। सन् 1950 में भारत का नया संविधान बना और प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। उस समय से उसे 'राष्ट्रपति भवन' नाम दिया गया। सबसे पहले राष्ट्रपति (गवर्नर जनरल) राजगोपालाचारी हुए, उनके बाद डा. राजेन्द्र प्रसाद, फिर डा. राधाकृष्णन राष्ट्रपति बने। डा. राधाकृष्णन के बाद मियां निर्वाचित हुए। इस प्रकार मियां स्वतंत्र भारत के चौथे राष्ट्रपति थे।

राष्ट्रपति भवन की इमारत 1921 में बनना शुरू हुई और आठ वर्ष में बनकर तैयार हुई। उसका क्षेत्र साढ़े सोलह सौ बीघा भूमि तक फैला है, जिसमें बाग है, स्टाफ के मकान हैं, मोटर गैराज हैं, स्टाफ के बच्चों के लिए एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय है। असल इमारत 25 बीघे पर निर्मित हुई है। यह उस समय के सबसे बड़े इंजिनियर एडवन ल्यूटीनस की देख-रेख में तैयार हुई। इसमें 340 कमरे, 35 बरामदे, 227 स्तंभ और 37 फव्वारे हैं। इस पर एक करोड़ चालीस लाख रुपये की लागत आयी थी। इस इमारत का ढांचा ईंटों से बनाया गया है और बाहर का हिस्सा क्रीम रंग और लाल रंग के पत्थरों से ढंक दिया गया है। ये पत्थर अधिकतर धौलपुर से मंगाये गये थे। कमरों की छतें अधिकांश काले संगमरमर से बनायी गयी हैं जो इटली और यूरोप आदि से मंगवाये गये थे। नये सचिवालय की इमारतों के मध्य सड़क पर कुछ दूर चलें तो लोहे की सलाखों का जंगला नजर आता है। यहीं से राष्ट्रपति भवन शुरू होता है, सामने लोहे का बड़ा फाटक है जिसमें से राष्ट्रपति की सवारी आती-जाती है। इस फाटक के दोनों ओर दो कुछ छोटे फाटक हैं जिनमें से होकर सड़क प्रमुख इमारत तक जाती है। ये दूसरे लोगों के आने-जाने के मार्ग हैं। बड़ा फाटक बंद रहता है। अंदर आने के बाद एक लंबा-चौड़ा आंगन-सा मिलता है जिस पर बजरी फैली हुई है। इसके मध्य में 145 फुट ऊंचा स्तंभ है जिसके ऊपरी भाग पर बिल्लौर का छः किरणों वाला तारा बना हुआ है। इस स्तंभ को 'जयपुर पिलर' कहते हैं, क्योंकि यह जयपुर के महाराज ने दिया था। इसके पीछे एक सुंदर

गुंबद नजर आता है जिस पर राष्ट्रपति का ध्वज फहराता है। उस पर हाथ, कमल का फूल, तराजू और अशोक स्तंभ के शेरों के चिह्न बने हुए हैं। रात्रि में लाल रंग का बल्ब जलता है। राष्ट्रपति यदि दिल्ली में न हों तो फिर न यह झंडा दिखाई देता है, न प्रकाश।

इमारत के निकट पहुंचकर श्वेत पाषाण की सीढ़ियां इस भवन के सबसे बड़े गोल कमरे यानी 'दरबार हाल' तक पहुंचाती हैं। यह कमरा ठीक गुंबद के नीचे है, अंदर की छत के मध्य एक सुंदर, बहुमूल्य झाड़ लटका हुआ है। वाइसराय का दरबार यहीं होता था। अब अन्य सरकारी उत्सव होते हैं। इसी के सन्निकट 'अशोक हाल' है जो वाइसराय का 'बाल रूम' था। यहां दीवारों में दर्पण लगे हुए हैं और बड़ा सुसज्जित है। छत पर विलक्षण कारीगरी है जो एक ईरानी कालीन से उतारी गई है और इटली के विख्यात कलाकार कोलो नीलो (COLO NELO) की महान रचना है। इस हाल को भी सरकारी उत्सवों के लिए प्रयोग में लाया जाता है। इसके पश्चात बैंक्वेट हाल (BANQUET) है जिसके मध्य बहुत लंबी-चौड़ी मेज है जिस पर 104 व्यक्ति बैठकर भोजन कर सकते हैं। इसकी दीवारों पर अंग्रेज वाइसरायों और स्वतंत्र भारत के राष्ट्रपतियों के चित्र लगे हैं। दरबार हाल और अशोक हाल के मध्य राष्ट्रपति का अध्ययन कक्ष है और उससे मिला हुआ वह कमरा है जहां वह अपने अतिथियों से मिलते हैं। उसे 'मार्निंग रूम' कहते हैं। इसी से मिला 'पैनल रूम' है जहां राष्ट्रपति उन लोगों से मिलते हैं जो 'प्रतिनिधिमंडल' बनाकर आते हैं। इसके बाद 'ग्रे ड्राइंग रूम' है जो परंपरागत लंच आदि के लिए है। यहां विक्टोरियन स्टाइल की कुर्सियां हैं। उत्तरी भाग में, जिसे 'नॉर्थ कोर्ट' कहते हैं, पहले वाइसराय रहा करता था, अब विदेशी विशिष्ट अतिथि रहते हैं। राष्ट्रपति नासिर, और टीटो यहां ठहर चुके हैं। ये कमरे 'द्वारका सूट', 'टैगोर सूट' और 'नालंदा सूट' के नामों से पुकारे जाते हैं।

इस इमारत के पीछे 'मुगल गार्डन' है। यह लेडी हार्डिंग की देन है जो कश्मीर के मुगल बाग को देखकर आश्चर्यचकित रह गयी थीं। इसी आश्चर्य का प्रतिबिंब यह बाग है। यह बहुत बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। इसमें लाल पत्थरों की शिलाओं से मार्ग बनाये गये हैं। दो 18 फुट चौड़ी नहरें हैं जो बाग को उत्तर से दक्षिण की ओर पार करती चली गयी हैं। दो दूसरी इसी चौड़ाई की नहरें हैं, जो इन दोनों नहरों को काटती हैं और बीच में 200 फुट वर्ग क्षेत्र का टापू-सा बनाती हैं। फरवरी-मार्च में यह बाग जनता के लिए खोल दिया जाता है।

मियां जब राष्ट्रपति भवन पहुंचे तो उन्होंने इस महान भव्य 340 कमरों वाली इमारत में से अपने और अपने परिवार वालों के लिए केवल तीन कमरे काफी समझे, जो पहली मंजिल के पश्चिमी भाग में थे। उसी के नीचे वाले भाग में उनका

कार्यालय था। मियां राष्ट्रपति भवन में दाखिल हुए तो उनके साथ हमारी मां, मेरी बच्ची नीलोफर, कुछ निजी सेवक, दो गायें, एक तोते के अतिरिक्त लगभग 5 हजार पुस्तकें और दूसरा घरेलू सामान था। मियां द्वारा चुने गये तीन कमरों में से एक मियां के लिए निश्चित था, दूसरे में मेरी मां और मेरी बच्ची, और तीसरा कमरा बैठने, खाना खाने के लिए प्रयोग में लाया जाता था। बढ़ी हुई सरकारी व्यस्तताओं के साथ-साथ मियां का ध्यान मुगल गार्डन को संवारने की ओर भी आकृष्ट हुआ। प्रतिदिन प्रातःकाल एक-सवा घंटा वहां बिताते, एक-एक क्यारी को देखते और विशेषज्ञों-सा निर्देश देते। कुछ दिनों में ही मुगल गार्डन का रूप बदल गया। इसके अतिरिक्त भवन के सभी प्रमुख कमरों में, संगोष्ठी-कक्ष में सफाई-सुथराई, सजधज का प्रबंध किया। बेल-बूटे फिर से उजागर कराये, और अतिथियों की सुख-सुविधा पर विशेष ध्यान दिया जिससे माननीय अतिथि अपनी हैसियत, स्तर के अनुरूप सभी आवश्यक वस्तुएं सुलभता से प्राप्त कर सकें। वह राष्ट्रपति भवन के कर्मचारीगण के कल्याण का सदा ध्यान रखते थे। वहां के कर्मचारियों के बच्चों का स्कूल तो उनके ध्यान का प्रमुख केंद्र रहा। बच्चों की यूनीफार्म के लिए अपनी जेब से राशि निर्धारित की और हर संभव प्रयास किया कि बच्चों को किसी प्रकार का कष्ट न हो, और उनमें हीनता की भावना न उत्पन्न हो।

लोकतंत्र का राष्ट्रपति होने के कारण सरकारी काम-काज का उन पर बहुत भार था, लेकिन इसके होते हुए भी स्टाफ को निर्देश था कि मिलने वालों की भेंट-प्रार्थना रद्द न की जाये। प्रतिदिन कई-कई घंटे लोगों से मिलने में बिताते। इसी प्रकार लोगों का हृदय रखने के लिए जब कोई विवाह या किसी उत्सव मे सम्मिलित होने का आग्रह करता तो मना न करते। हम लोग अक्सर उनसे कहा करते कि मियां आप इस प्रकार के उत्सवों में सम्मिलित होने के लिए क्यों सहमत हो जाते हैं, विशेषकर जबकि आपको बिना परहेज का भोजन खाना पड़ता है। इससे आपका स्वास्थ्य प्रभावित होता है। सब कुछ सुनने के पश्चात कहते – "तुम्हें अनुमान नहीं, जो कष्ट मुझे वहां जाने और बिना परहेज का खाना खाने में होता है, उससे कहीं अधिक कष्ट मुझे इंकार करने में होता है।"

मियों ने लोकतंत्र के राष्ट्र-अध्यक्ष के रूप में यूरोप के कुछ देशों का दौरा किया। उनके यूगोस्लाविया तथा हंगरी के दौरे में मैं भी साथ थी। जिस प्रकार उन्होंने अपने रख-रखाव, व्यवहार, लेखन, भाषण से विदेशी लोगों को प्रभावित किया और उनका मन मोह लिया, वह देखने की चीज थी; उसे शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता। कुछ वही लोग इसका अनुमान लगा सकते हैं जो उनके साथ विदेश गये हों। लोग कहते हैं कि मियां ही पहले राष्ट्रपति थे जिनके समय में विदेशी राजदूत बड़ी रुचि के साथ उत्सवों, समारोहों में सम्मिलित होते और किसी न किसी बहाने, थोड़ी देर के लिए ही सही, मिलने, बातचीत के अवसर तलाशते। यह उनके व्यक्तित्व की

विलक्षणता थी। उनके आकर्षण और मोहकता की यह स्थिति थी कि एक बार अल्लामा सैयद सुलेमान नदवी ने जामिआ से प्रस्थान करते हुए उपहास में कहा – "डा. साहब, आप क्या चुंबक खाते हैं कि आपसे अलग होने को दिल नहीं चाहता!"

मियां कर्तव्य के प्रति इतने सचेत थे कि अक्सर तबीयत खराब होने, और डाक्टरी सुझाव के विपरीत नित्यप्रति के कार्यों को जारी रखते और प्रमुख कर्तव्य – जैसे संसद के अधिवेशन को संबोधित करना, काफी अस्वस्थ होने पर भी न छोड़ते। सरकार के कार्यों में किसी प्रकार के अनावश्यक हस्तक्षेप से सदा परहेज करते। लेकिन उनके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण था कि मंत्री और दूसरे नेता सदा निजी परामर्श तथा कठिनाइयों के समाधान के लिए आते और मियां से बातचीत करने के पश्चात सब उलझनें दूर हो जातीं। ऐसा प्रतीत होता कि जो मानसिक उलझन या मानसिक-क्लेश लेकर आये थे वह मियां ने अपने ऊपर ले लिया हो और बदले में प्रसंन्नता, शांति, संतोष का उपहार देकर विदा किया हो।

10

मियां का राष्ट्रपति के रूप में कार्यकाल दो वर्ष से कुछ दिन कम का रहा। लेकिन इतने अल्पकाल में वह अपने चरित्र, व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप छोड़ गये जो सदा अमिट रहेगी और भावी पीढ़ी के लिए मार्ग-दर्शन का काम करती रहेगी। बहुत कम लोगों को यह ज्ञात होगा कि निधन से कुछ दिन पूर्व जब उनका असम के दौरे का प्रोग्राम बना तो तबीयत अच्छी नहीं थी। डाक्टरों और परिवार के सब लोगों ने मिलकर प्रार्थना की कि 'प्रस्तावित दौरा कुछ दिन के लिए स्थगित कर दिया जाये। स्वभावानुसार उन्होंने कहा कि राष्ट्रपति के रूप में मेरी कुछ जिम्मेदारियां हैं जिनको पूरा करना मेरा कर्तव्य है! दौरे की घोषणा हो चुकी है। असम के राज्यपाल ने उस दौरे की मुझसे बहुत पहले इच्छा व्यक्त की थी। इस समय मेरे वहां न जाने से बहुत-से लोगों को निराशा होगी। जो कुछ तैयारी की जा चुकी है वह व्यर्थ जायेगी। स्वास्थ्य का प्रश्न सचमुच महत्वपूर्ण है, लेकिन उसे कर्तव्य पर प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। डाक्टरों को संबोधित करते हुए कहा – "अब निर्णय आप पर छोड़ता हूं। मेरे सामने केवल दो विकल्प हैं – यदि कार्यक्रम में मेरा स्वास्थ्य इसकी आज्ञा नहीं देता तो कल राष्ट्रपति भवन से मुझे अपने ओखले वाले मकान में चला जाना चाहिये। मैं यहां रहकर अपने कर्तव्य को स्थगित नहीं कर सकता। निर्णय आप पर छोड़ता हूं।" यह सुनकर डाक्टर विवश हो गये और प्रस्तावित दौरे के कार्यक्रम पर अमल हुआ। दौरे से वापस आये तो तबीयत निढाल हो गयी और डाक्टरों ने पूरे दस दिन तक पूर्ण विश्राम करने की हिदायत दी, भेंट-मुलाकातें भी बंद कर दीं।

विवश होकर उन्होंने यह पाबंदी स्वीकार की, लेकिन इस शर्त के साथ कि दस दिन के पश्चात अपने आपको इस पाबंदी से मुक्त समझेंगे, ओर आगे और विश्राम का परामर्श न होगा। एक दिन मैं और मेरे पति तबीयत पूछने गये तो स्वभाव के अनुसार उन्हें बड़े संतोष के साथ अध्ययन में लीन देखा और इससे पूर्व कि हम स्वास्थ्य के विषय में पूछते, मुझे संबोधित करते हुए सहानुभूति प्रकट करने लगे क्योंकि इससे दो दिन पूर्व हमारे यहां चोरी हो गयी थी। इससे हमारी काफी हानि हुई थी। पहले तो कुछ सांत्वना की बातें करते रहे फिर बोले कि तुमने ज़कात और खैरात के विषय में पढ़ा होगा। मैंने कहा कि जी हां, कुछ जानती हूं। फिर मुस्कराए और कहा कि जो व्यक्ति दी जाने वाली ज़कात स्वयं नहीं दिया करता उससे अल्लाह दूसरे साधनों से दिलवाता है। बात समाप्त हो गयी और हम लोग कुछ देर ठहरने के बाद वापस आ गये। इस बात का गुमान भी न था कि मियां से जीवन में यह अंतिम मुलाकात है और आगामी 24 घंटे में वह हम से जुदा हो जायेंगे। सोचती हूं कितना अर्थपूर्ण वाक्य था – "आज से दसवें दिन मैं अपने आपको आजाद समझूंगा; और पाबंदियां लगाने पर तैयार न हों।" ठीक उसी दिन उन्होंने सदा के लिए आजादी प्राप्त कर ली और सांसारिक बंधनों को तोड़कर सदा-सदा के लिए विदा हो गये। 3 मई, 11 बजकर 20 मिनट पर उस पवित्र आत्मा ने नश्वर शरीर का त्याग किया और परिवार-जनों के अतिरिक्त अपने देश अर्थात परिवार के असंख्य लोगों को रोता-बिलखता छोड़कर चले गये।

यह प्राणघातक सूचना मुझे जामिआ नगर में मिली। प्रातः के कार्यों से मुक्त होकर मेरा इरादा राष्ट्रपति भवन जाने का था कि 11 बजे मेरी लड़की नीलोफर ने फोन पर कहा कि मियां गुसलखाने (बाथरूम) में बेहोश हो गये। आप लोग तुरंत आ जाएं, लाने के लिए गाड़ी भेज दी है। मैं घबरा गयी और सोचा – अल्लाह रहम करे, क्योंकि अब तक ऐसी घटना कभी नहीं घटी थी। कमरे आदि बंद कर रही थी कि दोबारा फोन की घंटी बजी। मेरी बड़ी लड़की रीहाना ने फोन उठाया। खबर निधन की थी। उसने बिना कुछ कहे चीखना शुरू कर दिया। वह रो रही थी और कह रही थी – "यह नहीं हो सकता। यह गलत है, यह गलत है।" अब कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं थी। सब कुछ समझ में आ गया। सारे घर में कोहराम मच गया। हमारी आवाजें सुनकर पड़ोस के लोग एकत्रित हो गये। किसी प्रकार इस खबर पर विश्वास न होता था और दिल यही कहता था कि शायद वह बेहोश हो गये होंगे। गाड़ी के आने में शायद 15-20 मिनट लगे होंगे, लेकिन एक-एक मिनट पहाड़-सा मालूम होता था। गाड़ी आयी और हम रोते-धोते राष्ट्रपति भवन रवाना हुए। सरकारी रूप से अभी निधन की घोषणा नहीं की गयी थी। इसलिए राष्ट्रपति का ध्वज लहरा रहा था, जो राष्ट्रपति की उपस्थिति का चिह्न होता है। राष्ट्रपति

भवन के निकट पहुंचे तो पहली दृष्टि ध्वज पर ही पड़ी और एक भ्रामक-सी आशा उभरी कि शायद यह खबर गलत हो, लेकिन ऐसी खबरें कहां गलत हुआ करती हैं! मृत्यु और भाग्य का निर्णय अटल था।

राष्ट्रपति भवन पहुंचकर जल्दी-जल्दी मियां के कमरे की ओर बढ़े, जहां हमारी मां और कुछ लोग उपस्थित थे। मां उनके सिरहाने बैठी आंसू बहा रही थीं। एक मिनट के लिए कदम रुक गये। मियां अपनी मसहरी पर चादर ओढ़े लेटे थे, लगता था गहरी नींद सो रहे हैं। मुख से चादर सरकाई तो आभा से चमकते चेहरे पर मुस्कान फैली हुई थी, मानो अभी-अभी सूर्यास्त हुआ है, लेकिन अभी तक लालिमा छाई हुई है –

निशान मर्दे-मोमिन बा तू गोयम,
चू मर्ग आयद तबस्सुम आयद बर लब ओस्त।

- डा. इकबाल

अर्थात् मैं तुझे मर्दे-मोमिन (धर्मनिष्ठ, ईश्वरवादी) की निशानी बताता हूं; वह यह है कि जब उसकी मृत्यु होती है तो उसके अधरों पर मुस्कान होती है।

वह मर्दे-मोमिन जिसके ईमान की कसम खायी जा सकती है, जो हजरत मुहम्मद के प्रेम में डूबा हुआ था, जो प्रत्येक कर्म-मार्ग में उस महादयालु (मुहम्मद साहब) के पद-चिह्न ढूंढ़ता था, जिनका महान चरित्र प्रकाशमय दीपक का प्रतिबिंब था। पैगंबर साहब के स्मरण से जिसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती थी, जो कृत्रिम जीवन से सदा दूर रहा, जिसने कभी धर्म को प्रदर्शनी और लाभ-प्राप्ति की वस्तु नहीं बनाया। यह शहादत उसकी बेटी की है जो उस प्रकाशमय शिक्षा-दीक्षा की गोद में पली-बढ़ी और जिसकी दृष्टि के सामने मरने वाले के जीवन का एक प्रकाशपूर्ण क्षण बीता है। उसी संतानवत्सल पिता की देन और कृपा है कि आज हम अपने हृदय में ईमान के प्रकाश का दीपक प्रज्ज्वलित पाते हैं और ईमान व इस्लाम का उपवन हराभरा देखते हैं। मियां अपने सच्चे उपास्य के दरबार में पहुंच चुके थे जहां जाने की उन्हें अंतिम दिनों में लौ लगी हुई थी और अक्सर अनायास यह शेर पढ़ा करते थे –

मेरी ज़िंदगी तो गुज़री तेरे हिज्र के सहारे,
मेरी मौत को भी प्यारे कोई चाहिए बहाना।

मुझे विश्वास है कि ईमान के दावेदार और इस्लाम के ठेकेदार चाहे जो कुछ कहते रहें लेकिन वह पवित्रात्मा अपने उपास्य के दरबार में लज्जित न होगी। विश्वास है कि दयालु फरिश्तों ने उसका स्वागत किया होगा, उसकी कब्र प्रकाश से पूर्ण होगी।

मैं फर्श पर बैठ गयी और अपनी आंखें उनके हाथ पर रख दीं जो अभी तक उसी प्रकार गर्म थे। जीवन की हरारत से बिल्कुल वंचित न थे। वहां सबने बताया

कि सुबह मियां ने मौसमी का-एक गिलास पिया, फिर समाचार-पत्र आदि पढ़े। उसी समय साप्ताहिक 'चेक-अप' के लिए डाक्टर आ गये थे। मियां दिनचर्या से निवृत होकर बाथरूम गये। डाक्टर परीक्षण के लिए मूत्र चाहते थे। बाथरूम में सामान्य से अधिक विलंब हो गया तो हमारी मां और इसहाक (प्रमुख सेवक) को चिंता हुई। उसने द्वार खटखटाया, कोई उत्तर न मिला तो द्वार के छिद्रों से झांककर देखा तो उन्हें बेसुध पाया। उसने दौड़कर डाक्टरों को बुलाया जो बाहर बैठे थे। डाक्टरों ने उन्हें उठाकर पलंग पर लिटाया, इंजेक्शन दिये, कृत्रिम सांस जारी करने की अथक कोशिश की, लेकिन यह सब निष्फल था। मियां तो सब मंजिलें तय कर चुके थे। अब कोई इंसानी कोशिश काम नहीं आ सकती थी। अल्लाह की इच्छा के सामने सब विवश थे। अंत में चलकर सरकारी तौर पर उनके निधन का समाचार प्रसारित किया गया। राष्ट्रपति भवन का ध्वज और अन्य सरकारी ध्वज भी झुका दिये गये। तेरह दिन का सरकारी शोक घोषित किया गया। जैसे-जैसे लोगों ने सुना, आते गये। सगे-संबंधियों को सूचना दी गयी। मेरी बहन अलीगढ़ में थी, उसे सूचित किया गया। एक चाचा (डा. यूसुफ हुसैन खां) शिमला में थे, दूसरे (डा. महमूद हुसैन खां) पाकिस्तान में थे, उन्हें भी सूचना भेजी गयी। मेरी बहन, हमारी बड़ी चाची के साथ कार से तुरंत चल पड़ी। इसी प्रकार यूसुफ चाचा भी उसी दिन पहुंच गये। महमूद चाचा तीसरे दिन पहुंच सके। बाहर तो लोगों का जमघट था; मंत्री, अधिकारी, विदेशों के राजदूत सब एकत्रित थे। अंतःपुर में भी महिलाएं ठसाठस भरी हुई थीं। अब स्नान की तैयारी शुरू हुई। मां को उस विलाप में भी मियां की इच्छा का ध्यान रहा और कहने लगीं – "कोई बाहर जाकर कह दे कि उन्हें खद्दर का कफन दिया जाए। उन्होंने कभी खद्दर के अतिरिक्त कुछ नहीं पहना। अंतिम समय में उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम न हो जाए।" चार बजे के निकट स्नान करवाकर कफन दिया गया। कुछ देर पहले सफिया और बड़ी मां पहुंचीं। मरदों ने कहा कि अब शव नीचे ले जाना चाहिए, लोग अंतिम दर्शन कर लें। सफिया ने मां को मियां के पास ले जाने का प्रयत्न किया, लेकिन वह तैयार न थीं। कहती थीं – मैंने मियां का जीवित मुख देखा है, अब मैं उन्हें इस दशा (मृत अवस्था) में नहीं देख सकूंगी। बड़ी मुश्किल से समझा-बुझाकर लोग उसे सहारा देकर अंदर ले गये। अंत में हम सब – मां, मेरी बच्चियों, सगे-संबंधियों और दूसरी महिलाओं ने उनके अंतिम दर्शन किये। उस समय जो दृश्य था, अल्लाह किसी बेटी को न दिखाये। अब भी उसके ध्यान से प्राण निकलने को हो जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य फूट फूट कर रो रहा था, हर आंख नम थी, अश्रु प्रवाहित थे। अच्छे-अच्छे साहस वाले निढाल थे। अब शव को नीचे दरबार हाल में ले जाया गया। वहां लोग जमा थे। दर्शनार्थियों के लिए प्रबंध कर दिया गया था। शव चारों ओर से फूलों से भरा था। लोग श्रद्धा व्यक्त करने

फूल लेकर आते थे और उनके चरणों में भेंट करते थे। फूलों का बादशाह फूलों में लेटा हुआ था। तीन दिन, तीन रात लोग बारी-बारी आते रहे और दर्शन करते रहे। हर समय लंबी पंक्ति लगी रहती। लोगों के लिए अपने प्रिय राष्ट्रपति के दर्शन करने का यह अंतिम मौका था। इस संबंध में एक घटना तो असाधारण है, जो बाद में ज्ञात हुई। मियां के एक श्रद्धालु आस्ट्रेलिया में डाक्टर थे। उन्हें जब निधन का समाचार पहुंचा तो तड़प उठे। प्रयत्न करके जहाज की सीट आरक्षित करायी और दिल्ली के लिए रवाना हुए। जब पालम हवाई अड्डे पर पहुंचे तो मियां का शव राष्ट्रपति भवन से निकल चुका था। मार्ग में जुलूस के कारण कुछ देर टैक्सी को रुकना पड़ा, जब ओखला मोड़ पर पहुंचे तो सड़क पर फौजी पहरा था और ट्रैफिक बंद था। उस समय मियां का शव जामिआ कालेज के परिसर में पहुंच चुका था। बहुत देर तक पहरे वालों से बातचीत होती रही। वह किसी भी दशा में जाने नहीं दे रहे थे। उन्होंने जब सब कहानी सुनायी तो पहरे वालों को दया आ गयी और उन्हें जाने की आज्ञा मिल गयी। अब वह उस स्थान पर पहुंच गये जहां 'नमाज़ जनाज़ा' (शव की, मृतात्मा की मुक्ति के लिए नमाज़ पढ़ना, दुआ करना) हो रही थी। वहां भी वही पाबंदी थी। जिन लोगों के पास 'पास' था उन्हें जाने दिया जा रहा था। बहुत प्रयत्न किया, न तो नमाज़ जनाज़ा में सम्मिलित हो सके और न दफ्न में। निराश होकर जामिआ नगर में अपने एक मित्र के यहां पहुंचे। घंटे-डेढ़ घंटे बाद जब भीड़ छट गयी और पाबंदी न रही, तब जाकर उन्होंने मज़ार पर फातिहा (दिवंगात्मा के लिए दुआ मांगी) पढ़ी और श्रद्धा के मोती अपने सजल नेत्रों से तुरबत (मज़ार) को भेंट किये।

शव दरबार हाल में चला गया तो हम सब और महिलाएं दूसरे कमरे में गये और निराश-हताश दशा में बैठे रोते रहे। लोग आते रहे, जाते रहे। हमें कुछ खबर न हुई कि कौन आया, कौन गया, कब दिन निकला और कब रात हुई, भूख कैसी होती है, और नींद क्या चीज है। इसी प्रकार तीन दिन बीत गये। दिन-रात स्त्री-पुरुष कुरआन का पाठ कर रहे थे। दूसरे धर्म के लोग भी अपने-अपने ढंग से प्रार्थना में लीन थे। राष्ट्रपति भवन के इतिहास में ये बड़े अद्‌भुत दिन थे, जबकि इस प्रकार अल्लाह का स्मरण किया जा रहा था। कुछ लोगों ने तो ऐसा प्रेम दर्शाया जिसकी कोई मिसाल नहीं मिलती। हारिस साहब मियां के बहुत प्रिय मित्र हैं। वह मुंबई में थे। जब सूचना मिली तो पहली रेलगाड़ी से चल पड़े। संयोग से निधन से छह सात दिन पूर्व ही मिल चुके थे। दिल्ली में मियां के साथ ही ठहरे थे। लेकिन फिर भी उनका मन अंतिम बार उन्हें देखे बिना न रह सका। तृतीय श्रेणी का टिकट था। बैठने तक के लिए स्थान न था। अपना अटैचीकेस रखकर बैठ गये। चलते समय पवित्र कुरआन साथ ले लिया था। बैठे-बैठे मियां की बहुत-सी बातें स्मरण आने

लगीं। जो समय उनके साथ बिताया था, उसकी याद आयी। उन्होंने सोचा - मै जब दिल्ली जाता था ज़ाकिर साहब के लिए उनकी कोई प्रिय वस्तु ले जाता था, आज वह प्रत्येक भौतिक वस्तु से मुक्त हो गये हैं। अब उन्हें क्या उपहार दूं? पवित्र कुरआन हाथ में था, पढ़ना आरंभ कर दिया। यह भी उनकी प्रिय वस्तु थी, क्यों न आज यह उपहार प्रस्तुत कर दूं? पढ़ना शुरू किया, यात्री आते रहे – जाते रहे। हारिस साहब पवित्र कुरआन पढ़ते रहे। अल्लाह ने भी उन्हें धैर्य प्रदान किया था। वह कहते थे कि मुझे ज्ञात नहीं कौन-सा स्टेशन आया और कौन-सा गया। जब दिल्ली निकट आ गयी तो मुझे होश आया और मैंने देखा कि मेरा कुरआन समाप्त होने में दो-चार पंक्तियां शेष रह गयी हैं। ज़ाकिर साहब के लिए उचित उपहार मेरे पास था। ऐसा उपहार जिससे सचमुच उनकी आत्मा को प्रसन्नता होगी, उसे तस्कीन मिलेगी। उनके एक शिष्य वर्धा के एडवोकेट भी सूचना पाते ही चल पड़े। भागदौड़ में उन्हें भी पास न मिला। नमाज़ जनाज़ा में दूर से सम्मिलित तो हो गये। कब्र पर दफनाने के पश्चात पहुंचे।

तीन दिन-रात शव दरबार हाल में रखा रहा। हम लोग भी नीचे जाकर दिन में एक बार देख आते और अब अंतिम दिन यह संबंध भी समाप्त हो गया।

बाहर प्रांगण में शव ले जाया गया। वहां देवबंद के शैखुल हदीस (हदीस के विशेषज्ञ) मौलाना फखरुद्दीन ने जनाज़े की नमाज़ पढ़ायी। फिर कंधों पर उठाकर जनाज़ा गन-कैरिज पर रखा गया जो फूलों से लदा हुआ था। पास ही उनका प्रिय सेवक इसहाक खड़ा था और अपने स्वामी के अंतिम कर्तव्य पूर्ण कर रहा था। जुलूस की इस प्रकार व्यरस्था की गयी थी कि आगे राष्ट्रपति के अंगरक्षक थे, उनके पीछे नौसेना, वायुसेना और थलसेना की टुकड़ियां थीं। उनके पीछे जनाज़ा और उसके बाद प्रियजनों, मित्रों, मंत्रियों, अधिकारियों और राजदूतों की गाड़ियां थीं। इस प्रकार शोकमग्न यह जुलूस राजपथ से होता हुआ जामिआ नगर ओखला की ओर आगे बढ़ा। दोनों ओर लोगों के ठठ-के-ठठ लगे हुए थे। लगभग सात बजे शव जामिआ कालेज के मैदान में पहुंचा जहां पर मुफ्ती अतीक-उर-रहमान की इमामत में जानाज़े की नमाज़ अदा की गयी। सबके सद्परामर्श से मियां का अंतिम विश्राम-स्थली जामिआ नगर की धरती तय की गयी थी। यहां के कण-कण से उन्हें लगाव था। यहां की प्रत्येक वस्तु को उन्होंने अपने रक्त से सींचा था। इधर-उधर शीघ्र चल-फिर करने के बाद अपने अंतिम प्रिय स्थान पर बसेरा लिया।

जामिआ कालेज के मैदान में जनाज़े की नमाज़ के पश्चात शव कंधों पर उठाकर उस स्थान पर ले जाया गया जहां कब्र पहले से तैयार थी। चारों ओर लोग एकत्रित थे। सेना का प्रबंध था। केवल पास प्राप्त कर लोग क्षेत्र के अंदर आ सकते थे। यह प्रबंध इसलिए था कि कहीं भीड़ के कारण कुछ गड़बड़ न हो जाये। शव कब्र

में उतारा गया। मित्रों-प्रियजनों ने मिट्टी दी। प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने भी यह अंतिम रीति पूर्ण की।

लगभग साढ़े नौ बजे यह लुटा हुआ काफिला वापस आया। मेरे पति, बहनोई, लड़का और दोनों चाचा अंतःपुर में आये, कुछ देर शोकमग्न, उदास बैठे रहे, फिर बाहर मर्दाने में चले गये जहां कुरआन ख्वानी (कुरआन का पाठ) हो रही थी। महमूद साहब जो मेरे छोटे चचा हैं और जो मियां के निधन की सूचना पाकर कराची से आये थे, वह भी बाहर कुरआन ख्वानी में शरीक रहे, लेकिन उनकी तबीयत खराब थी। वह अपने को संभाले रहे और उठकर ऊपर लेटने चले गये। किसी को कुछ अंदाजा न हुआ कि क्यों चले गये। सुबह जब मेरे पति उनके कमरे में पहुंचे तो उन्हें बहुत व्याकुल और बेचैन पाया। ज्ञात हुआ कि तबीयत अधिक खराब है। डाक्टर साहब मौजूद थे। तुरंत सूचना दी गयी। उन्होंने देखा तो कहा कि भयानक हृदयाघात है। अविलंब अस्पताल ले जाया जाये। ज्ञात हुआ कि वास्तव में उन्हें तकलीफ उस समय शुरू हुई जब मियां को कब्र में उतारा जा रहा था। लेकिन उन्होंने किसी को नहीं बताया और झेलते रहे। सुबह तक तबीयत ज्यादा खराब हो गयी। यह एक नयी मुसीबत खड़ी हो गयी। प्रत्येक व्यक्ति परेशान हो गया और उनके प्राणों के लिए दुआ मांगी जाने लगी। उनकी पत्नी को बुलाया गया। वास्तव में महमूद चाचा मियां पर प्राण-न्योछावर करने वाले भाई हैं। भाग्य ने उन्हें बहुत दूर कर दिया और राजनीतिक विवशताओं के कारण भाई-भाई भी मिल नहीं सकते थे। सात वर्ष पश्चात उन्होंने मियां को देखा था और वह भी इस दशा में। वह इस शोक को सहन न कर सके लेकिन खुदा ने सबकी दुआएं सुन लीं। धीरे-धीरे वह खतरे से निकले और स्वास्थ्य लाभ करने लगे। यहां तीन सप्ताह रहे। अस्पताल में रहकर हवाई जहाज से सकुशल अपने घर पहुंचे।

मियां के निधन के पश्चात मां ने राष्ट्रपति भवन छोड़ने का इरादा किया लेकिन इंदिरा जी की ओर से यह संदेश मिला कि वह 'चेहल्लुम' (चालीस दिन तक) वहीं ठहरें। उन दिनों प्रतिदिन पवित्र कुरआन का पाठ होता रहा। उनका कमरा वैसा-का-वैसा ही था। उनके बिस्तर पर उनका माली प्रतिदिन फूल डालता। प्रत्येक वस्तु पहले की भांति थी, बस एक वही न थे।

चालीस दिन बीतने के बाद मां दूसरी कोठी में चली गयीं जो मोतीलाल नेहरू पैलेस पर है। उनके प्रस्थान का दृश्य भी बहुत दुखद था। मां ने बहुत धैर्य और सब्र से काम लिया। आज वह अपना सब कुछ खोकर खाली हाथ यहां से जा रही थीं। राष्ट्रपति भवन के कर्मचारीगण बहुत शोकसंतप्त थे। राष्ट्रपति वी.वी. गिरि मां से मिलने आये। उनके जाने के पश्चात तमाम स्टाफ ने सजल नेत्रों से उन्हें विदा किया। वह अपने हृदय को संभालती हुई, सबके सलाम का उत्तर देती हुई, शोक-संताप में डूबी हुई, राष्ट्रपति भवन से विदा हुईं'।

11

सात्विकता और शालीनता

हजारों साल नरगिस अपनी बेनूरी पे रोती है,
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा।

—डा. इकबाल

उपवन में शताब्दियों के पश्चात जो अंतर्दृष्टिसंपन्न उत्पन्न होते हैं उनके जीवन के नाना प्रकार के रूपों का उल्लेख करना सरल कार्य नहीं हैं। बस पुरानी यादें और अनुभवों की सहायता से एक धुंधला-सा चित्र खींचा जा सकता है। मेरी स्मृति में मियां के चित्र हैं। काश! मैं उन्हें आपको दर्शाने में सफल हो सकूं।

इस समय मेरी कल्पना में उनकी मोहक, साकार प्रतिमा है। यह सच है कि चेहरा व्यक्तित्व का दर्पण होता है। मियां के चेहरे पर व्यक्तित्व की जो आभा नृत्य करती थी,उससे उनके महान चरित्र की एक छटा झलकती थी - प्रशस्त, दीप्तिमान मस्तक, प्रज्ञाशील नयन, अधरों पर आकर्षक मुस्कान – ऐसी मुस्कान जिससे प्रेम की किरणें फूटती दिखायी देती हैं, ऐसी मधुर मुस्कान जैसी एक मां के अधरों पर अपने शिशुओं को देखकर पैदा होती है। यह मुस्कान थी जो जीवनपर्यंत उनके अधरों पर अठखेलियां करती रही। एक साकार ज्योति है जिसे देख रही हूं।

मियां सदा खद्दर का प्रयोग करते; सफेद खद्दर का अलीगढ़ तराश-छांट का पाजामा होता और कलियों का कुरता। यह सीधे-सादे वस्त्र हमारी मां स्वयं ही सी लिया करती थीं। नीचे बनियान की जगह भी घर की सिली हुई बंडी होती, शेरवानी-टोपी समान रंग – गर्मियों में सफेद खद्दर की होतीं और जाड़ों में रंगीन गर्म कपड़े की जो शुद्ध खद्दर होता। कपड़ा चाहे मामूली ही हो, बहुत साफ-सुथरा और ठीक होता। सदा साफ-सुथरी इस्तरी की हुई शेरवानी के साथ टोपी पहनने का विशेष ध्यान रखते। बहुत कम लोगों ने उन्हें बिना टोपी पहने देखा होगा। वह बाहर कभी बिना शेरवानी-टोपी के नहीं निकलते थे। वस्त्रों की यह देखरेख कोई नयी बात न थी, बल्कि आरंभ से ही जबसे हमने आंखें खोलीं उन्हें ऐसा ही करते पाया। वस्त्रों की व्यवस्था पहले हमारी मां करती थीं। लेकिन अलीगढ़ जाने के बाद जब से मियां

इसहाक ने उनकी सेवा का काम अपने ऊपर लिया था अंतिम समय तक यह दायित्व उन्होंने ही निभाया। वह यह देखभाल इतनी पाबंदी, ईमानदारी, निष्ठा से करते थे कि सामान्य रूप से लोग इस प्रकार इबादत, पूजा-पाठ भी मुश्किल से करते होंगे। क्या मजाल कि मियां की अचकन पर तनिक-सी सलवट भी रह जाये। इसहाक इस्तरी हुई कई-कई अचकनें तैयार रखते और तुरंत प्रस्तुत कर देते। यहां तक कि यात्रा में भी इस ओर लापरवाह न रहते। जहां कहीं उतरना होता, इसहाक शेरवानी लिए खड़े हैं कि यह बदल लीजिये और मियां का दिल न चाहता हो तब भी पहन लेते कि इसहाक का दिल न टूटे। यही प्रतिदिन स्नान करने में होता। यों तो वह प्रतिदिन स्नान करने के आदी थे, लेकिन इंसान बंदा - बशर है, कभी नहाने का मन न करता तो इसहाक के लिए वह अपने को तैयार कर लेते। कहते, "भई, नहाना ही पड़ेगा क्योंकि इसहाक मियां ने कपड़े बाथरूम में लगा दिये होंगे, पानी तैयार कर दिया होगा।" उनकी नित्य-चर्या में कोई बाधा नहीं डाली जा सकती थी।

मियां प्रातः सवेरे उठते। यह उनकी सदा की आदत थी। लगभग 15-16 साल से तो यह बराबर उनका नियम था कि अपने उपवन में घूमते। टहलने जाते तो चहलकदमी भी हो जाती और अपने द्वारा रोपित पौधों को भी देख लेते। फूलों और पौधों से मियां की रुचि उनके व्यक्तित्व का एक ऐसा अंग बन गयी थी जिसे पृथक नहीं किया जा सकता। वह उपवन के पत्ते-पत्ते से परिचित थे। उन्हें ज्ञात था कि कौन-सा पौधा तरोताजा है और कौन-सा मुरझा रहा है, किस को कौन-सा रोग लग गया है। वह पौधों के पत्तों को इस प्रकार साफ करते जैसे कोई मां प्यार से अपने बच्चों का मुंह-हाथ धोती है। उपवन में काम करने वालों से तो उनके संबंध इतने अधिक और बिना संकोच के होते कि वह उनके परिवार, बच्चों और उनकी सकल समस्याओं से अवगत रहते। उनके दुख-दर्द और खुशियों में सम्मिलित होते। उनके बच्चों को अपने पास बुलाते, उन्हें मिठाइयों, कपड़ों आदि के रूप में उपहार देते। बीमार होते तो स्वयं जाकर देखते, उनके उपचार का प्रबंध करते, उन्हें सांत्वना देते। मियां के निधन से लगभग 15 दिन पूर्व राष्ट्रपति भवन के एक माली का अकस्मात प्राणांत हो गया था। उसकी मृत्यु का मियां को बहुत दुख था। बार-बार उसका जिक्र करते थे।

यों तो राष्ट्रपति का उद्यान एक आदर्श उद्यान समझा जाता है लेकिन मियां के वहां जाने के बाद तो उसकी सुंदरता में चार चांद लग गये। मियां की व्यक्तिगत रुचि से उद्यान का प्रत्येक पथ, प्रत्येक क्यारी - कण-कण दीप्तिमान हो गया, मानो मसीहा ने उनमें नये प्राण डाल दिये हों। मालियों के काम में रचनात्मक वैभव और कलाकारी की भावना गतिमान हो गयी। वह समझने लगे कि उनका काम कोई साधारण और छोटा काम नहीं है, बल्कि ऐसा काम है जिसे देश का सबसे बड़ा नागरिक और प्रहरी पसंद करता है। पूर्ण रुचि लेता है और स्वयं उस काम में

सम्मिलित होता है। पौधों-फूलों का ज्ञान और कदर करने में उनसे आगे है। मियां को उद्यान का प्रत्येक पौधा प्रिय था। उन्हें सब फूलों की सुगंध, सुंदरता भाती थी, लेकिन फूलों में गुलाब के प्रति विशेष रुचि थी। उन्होंने गुलाब की असंख्य किस्में एकत्रित की थीं। पटना और रांची के राजभवन में नं. 6 मौलाना आज़ाद रोड पर उपराष्ट्रपति भवन में उनके लगाये हुए गुलाब अब भी मौजूद हैं और उनकी सौंदर्य प्रियता, चयन व रुचि की प्रशंसा कर रहे हैं। राष्ट्रपति भवन में भी उन्होंने बहुत-सी नयी किस्में लगायीं। वह देश के अंदर और बाहर जहां भी जाते, नयी-नयी किस्में लाने की खोज में रहते। किसी नये स्थान पर पहुंचकर शायद उनकी बातचीत में प्रथम प्रश्न यही होता होगा कि यहां के कौन-से फूल-पौधे प्रसिद्ध हैं। उनकी रुचि को, दिलचस्पी को देखकर एक गुलाब का नाम भी उनके नाम पर "ज़ाकिर हुसैन" रखा गया था। गुलाब के अतिरिक्त एक 'बोगन विला' का नाम भी उनके मित्र प्रोफेसर हबीब-उर-रहमान ने 'ज़ाकिरयाना' रखा था। बोगन विला की ओर भी सदा उनका ध्यान रहा। उनका कहना था कि यह इतना सुंदर और प्राणवंत वृक्ष है कि बिना किसी श्रम और जल की प्रचुरता के जीवित रह जाता है, और खूब फूल देता है। जामिआ में जहां आरंभ में साधनों का अभाव था, बोगन विला बहुलता से लगाये गये थे, जिसने उस समय के असफल जामिआ की सौंदर्य-संपन्नता को न केवल सुरक्षित रखा, बल्कि उसे बढ़ाया भी।

सामान्य रूप से यह देखा जाता है कि जिन लोगों को एकत्रित करने में रुचि होती है वे अधिकतर रुपये-पैसे, सोना-जवाहरात आदि एकत्रित करते हैं। मियां को भी एकत्रित करने का शौक था लेकिन कैसा अनोखा शौक कि रुपये-पैसे की ओर कभी प्रवृत्त न हुए और न कभी उनकी दृष्टि में उसका इतना महत्व था कि वे उसे एकत्रित करते। पहले तो अधिक कमाने की ओर प्रवृत्त न हुए, फिर जितना कमाया, खर्च उससे अधिक बढ़ा लिया। धन-संपत्ति के अतिरिक्त उन्होंने बहुत-सी वस्तुएं एकत्रित कीं। अच्छे चित्रकारों के चित्र एकत्रित किये। रुपया हाथ में होता तो मौलिक चित्र खरीद लेते, और न होता तो प्रिंट ही एकत्रित करते और फिर यह नहीं कि चित्र खरीद कर डाल दिया। बल्कि उन्हें प्रत्येक चित्र का पूर्ण इतिहास और पृष्ठभूमि ज्ञात होती। चित्रकार के जीवन की पूर्ण जानकारी प्राप्त करते थे। चित्रों के उन सूक्ष्म रहस्यों और गुणों को पहचानते जिन तक सामान्य लोगों की दृष्टि नहीं जाती। उन्हें माडर्न आर्ट की पूर्ण जानकारी थी। आधुनिक और प्राचीन आर्ट के भावदर्शी थे, हावभाव को जानने वाले थे। माडर्न आर्ट के कुछ दुर्लभ नमूने उनके ड्राइंग रूम में टंगे रहते थे। वर्तमान समय के कई चित्रकारों से उनके निकट तथा गहन संबंध थे। मियां की माडर्न आर्ट में रुचि की बात आयी है तो इस संबंध में रशीद अहमद सिद्दीकी के कुछ सुंदर वाक्य भी सुनिये –

"ज़ाकिर साहब ने इस प्रकार के चित्रों के अलभ्य और प्रतिनिधि नमूने एकत्रित

किये जिनमें से एक-दो दीवार पर सुसज्जित थे। कभी दृष्टि उन पर जा पड़ी और ज़ाकिर साहब की मुझ पर तो एक क्षण के लिए ऐसा प्रतीत होने लगता जैसे हम तीनों यानी ज़ाकिर साहब, मेरे और चित्र के एक्सप्रेशन (हावभाव) एक जैसे हो गये हों।"

चित्रों के अतिरिक्त उन्होंने प्रसिद्ध हस्तलिपियों के असंख्य प्राचीन और आधुनिक अभिलेख भी एकत्रित कर रखे थे। उनकी यह पुरानी रुचि थी। मैंने बचपन से ही उन्हें सुंदर हस्तलिखित पत्र एकत्रित करते हुए देखा था। उनमें से कुछ अच्छे अभिलेखों को फ्रेम कराकर ड्राइंग रूम और अन्य कमरों में लगवाया था। राष्ट्रपति भवन की इमारत में प्रवेश करते ही जो पहली गैलरी आती है उसमें बहुत व्यवस्थित और रुचिपूर्वक अभिलेख सजाये गये थे जिन पर आने वालों की सर्वप्रथम दृष्टि पड़ती। उन अभिलेखों में उच्चकोटि के शायरों के अशआर होते जिनसे उनके चयन की सुंदरता और साफ-सुथरी अभिरुचि का भान होता।

वह शास्त्रीय संगीत का बड़ा सम्मान करते थे। हिंदुस्तानी, अंग्रेजी और फारसी के असंख्य रिकार्ड उन्होंने एकत्रित किये थे। उनमें से बहुत-सी चीजें टेप रिकार्ड की हुई अब भी मौजूद हैं जो उनकी इस अभिरुचि की निशानी हैं।

मियां की शेर-ओ-अदब (काव्य एवं साहित्य) में साफ-सुथरी और अगाध रुचि थी। उनका उर्दू-फारसी का अध्ययन बड़ा विस्तृत था। उर्दू-फारसी के लोकप्रिय अशआर वह अपनी एक सुंदर नोटबुक में लिखते रहते थे। यह अशआर हजारों की संख्या में थे। यह नोटबुक यात्रा तथा घर में साथ रहती थी। बहुत-से अशआर लोकभाषा में थे जिन्हें वह समय तथा प्रसंग के अनुकूल नग की भांति जड़ देते थे। उन्हें नयी-नयी भाषाएं सीखने में भी बड़ी रुचि थी। यद्यपि उन्हें इसके लिए इतना अवकाश और समय नहीं मिलता था फिर भी जब कभी अवसर मिलता उनका ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते। बिहार के कार्यकाल में कुछ अधिक अवकाश मिला तो रांची में उन्होंने आदिवासियों की भाषा सीखनी आरंभ की थी और अच्छी कुशलता प्राप्त कर ली थी। यों भी फारसी, उर्दू, अंग्रेजी और जर्मन भाषा पर तो उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त था। अरबी भी अच्छी-खासी जानते थे। कुरआन पढ़ते और समझते थे। अक्सर उसके भाव, अर्थ और सरलता व अलंकारिता पर झूम-झूम जाते थे।

उनकी एक बड़ी अभिरुचि पत्थर एकत्रित करना थी। उनकी यह रुचि अलीगढ़ के समय से आरंभ हुई थी और धीरे-धीरे इतनी बढ़ गयी थी कि देश के अंदर-बाहर जहां भी जाते विरल पत्थरों की खोज की धुन लगी रहती, लोगों को उनकी रुचि ज्ञात होती तो स्वयं भी उपहार दे देते। कुछ पत्थर इतने भारी होते कि लाना कठिन हो जाता। उनमें से कुछ पत्थर और फॉसिल (जीवाश्म) तो बहुत विरल हैं। रूस में उन्हें 'यूराल' के विभिन्न रंगीन पत्थरों का एक वृक्ष-सा बना कर दिया गया था जो

एक शोकेस में रखा हुआ उनके ड्राइंग रूम की शोभा बना रहता था। इन पत्थरों की संख्या बढ़ते-बढ़ते इतनी हो गयी थी कि राष्ट्रपति भवन के बहुत-बड़े कमरे में लगा दिये गये थे। फिर भी बहुत से अभी यों ही बंद पड़े थे क्योंकि उनके लगाने का स्थान न रहा था। उनके निधन के पश्चात जब हम लोग दूसरे घर में गये तो हमारे पास इतना स्थान न था कि उन्हें रख सकते, इसलिए राष्ट्रपति भवन में ही उस समय तक छोड़ना पड़ा जब तक उनकी स्मृति में बनाया जाने वाला वह स्मारक पूर्ण नहीं हो जाता जिसमें उनकी रुचि व दिलचस्पी की सभी वस्तुएं एकत्रित होनी हैं। मियां उन पत्थरों को घंटों देखते रहते और अपने पास आने-जाने वालों को बड़ी रुचि से दिखाते और उन्हें उनका विवरण देते। एक विचित्र पत्थर मुझे भी उन्होंने दिखाया था और उसकी यह कहानी सुनायी थी – "जिस समय पत्थर का यह टुकड़ा कण-कण से जुड़कर बन रहा था, पानी की एक बूंद उसमें रह गयी थी और बेचारी उसी में बंद हो गयी। उसी समय से यह उसमें बंद है। पत्थर को हिलाने से हिलती जान पड़ती है और प्रतीत होता कि पानी ही है।" इसी प्रकार एक और पत्थर दिखाया जिसमें एक अपूर्ण हीरा जड़ा हुआ था।

पुष्प-पौधों की भांति पत्थरों का ज्ञान और जानकारी उन्हें किसी विशेषज्ञ से कम न थी। उपराष्ट्रपति तथा राष्ट्रपति के रूप में उनकी भेंट विदेशी प्रतिनिधियों से होती रहती थी। वार्तालाप के मध्य उनके यहां के पौधों-वृक्षों का प्रसंग अवश्य आता। अक्सर ऐसा होता कि मियां उनके देश के किसी वृक्ष या पौधे की बात करते, जिसके बारे में स्वयं उन्हें ज्ञात न होता और वे लोग मियां की जानकारी पर विस्मित होते।

मियां के निधन से एक दिन पूर्व मैं उनके पास गयी थी। वह लेटे हुए थे। पलंग के निकट की मेज पर एक डिब्बा रखा हुआ था। उन्होंने उसे खोलने को कहा। खोला तो बताया कि अमुक स्थान से यह पत्थर आया है। इसे देखो कितना सुंदर है। पास ही एक और लकड़ी के डिब्बे में दस-बारह प्रकार के फूल रखने का स्थान बना हुआ था। भांति-भांति के गुलाब लगे हुए थे और उन पर उनके नाम लिखे हुए थे। बड़ी रुचि के साथ मुझे उन गुलाबों की विशेषताएं बताते रहे। यह मेरी उनसे अंतिम भेंट थी, क्योंकि इसके पश्चात मैं उनके पैरों के पास बैठकर उनके पैर सहलाती रही और वह सो गये। मैं धीरे से कमरे से बाहर निकल आयी। निकलते हुए एक उचटती-सी दृष्टि डाली तो उनके सिरहाने मेज पर एक छोटे-से परचे पर लिखा हुआ था – "मैं अंदलीबे-गुलशन ना-आफरीदा हूं"। मुझे ज्ञात नहीं था कि कोयल की मधुर वाणी फिर न सुन सकूंगी।

मियां को बच्चे बहुत अच्छे लगते थे, बच्चे चाहे अपने हों या किसी और के – उनकी दृष्टि में सब समान थे। जितना अपनों का ध्यान रखते, उतना ही दूसरे बच्चों का रखते। बच्चों को केवल दिल बहलाने का खिलौना न समझते थे, बल्कि

उनके दिल में उनका बड़ा सम्मान था। वह हमसे कहते – "बच्चों का आदर किया करो। कौन जानता है उनमें से कौन क्या बनेगा, न जाने उनमें कितने विद्वान, कितने सूफी, कितने महान व्यक्ति छिपे हुए हैं।" बच्चों को प्रसन्न करने के लिए उनकी पसंद की विभिन्न वस्तुएं जैसे पेंसिल, कागज, रंगीन चाक, चाकलेट, टाफी आदि मौजूद रखते और जब बच्चे उनके पास जाते तो उनको देते। प्रातः टहल कर आते तो बच्चों के पास जाते। कोई बच्चा सो रहा होता, कोई उठकर खिसियाना बैठा होता। वह बड़े प्यार से थपकी देते, सिर सहलाते और यह शेर पढ़ते – "उठा है कच्ची नींद से कोई खफा खफा।" और साथ ही अपनी आनंददायक बातों से बच्चों का मूड ठीक कर देते। यह शेर मैंने स्वयं अपने बचपन में और अपने बच्चों के लिए बार-बार पढ़ते सुना था। बच्चों के विषय में पैगम्बर हज़रत मुहम्मद की वह हदीस (वाणी) सुनाते जिसमें एक व्यक्ति ने पैगंबर साहब को बच्चों को प्यार करते देखा तो कहा – "ए अल्लाह के रसूल! आप अल्लाह के संदेशवाहक होकर बच्चों को (यानी ऐसी अप्रमुख वस्तु को) प्यार करते हैं। मेरे तो बहुत-से बच्चे हैं, लेकिन मैंने आज तक किसी को प्यार नहीं किया।" अल्लाह के रसूल ने कहा – "यदि अल्लाह तुम्हारे हृदय से प्रेम छीन ले तो मैं क्या करूं!" जब हम कभी बच्चों को किसी बात पर झिड़कते तो कहते–रसूले-खुदा जब नमाज़ पढ़ते थे उनके नाती उनकी पीठ पर, कंधों पर चढ़ जाते थे और वह कुछ नहीं कहते थे, यद्यपि वह उस समय अल्लाह के दरबार में होते थे और तुम लोग सांसारिक कामों में भी बच्चों की बाधा से झल्ला उठते हो। मैं वह स्थिति नहीं भूल सकती जब उन्होंने अपने माली के लड़के के लिए जो पांच-छह वर्ष का होगा, गर्म सूट सिलवाया था और बुलवाकर बड़े स्नेह से उसे स्वयं पहनाया था। फिर उसे देख-देखकर बाग-बाग हो गये थे। बच्चे भी उन्हें बहुत चाहते थे। मेरे बच्चे तो यह समझते थे कि कोई भी बड़ी से बड़ी आवश्यकता हो, कोई समस्या हो, मियां उसका समाधान कर देंगे और आवश्यकता पूरी कर देंगे। इसलिए सीधे मियां के पास पहुंचते थे। मेरी बड़ी लड़की विशेष, रूप से उनसे बहुत हिली हुई थी। जब वह 8-9 वर्ष की थी एक दिन बहुत भोलेपन से कहने लगी – "अम्मी, जब मैं यह सोचती हूं कि अल्लाह मियां कैसे होंगे, तो मुझे ऐसा लगता है कि वह बिल्कुल मियां जैसे होंगे।"

बच्चों में इतनी रुचि लेना, उनकी शिक्षा-दीक्षा के प्रति उत्साह दर्शाना हमें जामिआ मिल्लिया के रूप में दिखाई देता है। बच्चों के लिए उन्होंने जो कहानियां लिखीं उनमें बच्चों के मनोविज्ञान, उनकी रुचियों, उनके सोचने के ढंग को जिस सुंदरता से प्रस्तुत किया गया है, यह वही व्यक्ति कर सकता था जिसमें इस काम की योग्यता के साथ लगन भी हो और बच्चों के जीवन में लीन हो गया हो।

बड़ों के प्रति भी उनका प्रेम-आदर कम न था। वह प्रत्येक व्यक्ति को प्रेम

और सम्मान का अधिकारी समझते थे। उन्होंने शायद ही कभी किसी छोटे-से-छोटे व्यक्ति को घृणा की दृष्टि से देखा या पुकारा हो। सदा अच्छे, आदरसूचक शब्दों के साथ संबोधित करते थे। नाम के साथ 'मियां', 'जनाब', 'साहब' लगाकर पुकारते थे। कभी किसी पर अपनी श्रेष्ठता, वरिष्ठता नहीं जताते थे। अपनी तकलीफों, परेशानियों को भी प्रकट न करते थे। दूसरों की परेशानियों को सुनते, उनसे सहानुभूति प्रकट करते और उन्हें सांत्वना देते थे। उनकी बातचीत में अपनेपन की ऐसी गर्मी होती कि व्यक्ति अपना सब दुख-दर्द भूल जाता था। उनसे मिलकर किसी को भी अपनी हीनता का अनुभव न होता। वह मिलने वाले को एक मिनट के लिए भी यह आभास न होने देते कि वह उनसे किसी प्रकार कम है। आने वाले को उनसे मिलकर ऐसा महसूस होता कि जैसे वह किसी सुरक्षित दुर्ग में आ गया है जहां उसे कोई हानि नहीं पहुंचा सकता। लोग निराश होकर उनके पास आते और आत्मविश्वास तथा धैर्य की संपत्ति अपने साथ लेकर लौटते, मानो उनके सकल दुख-दर्द मियां ने अपने सिर ले लिये हों। वास्तव में होता भी यही था। लोग अपनी व्यथा-वेदना सुनाकर हल्के हो जाते। वह रातों में सो नहीं पाते, करवटें बदलकर उपाय सोचते रहते और उनके उपचार के प्रयत्न करते रहते।

परिवार में कोई अस्वस्थ हो या किसी कर्मचारी को कष्ट हो तो वह समान रूप से व्याकुल हो जाते थे। बार-बार उनकी कुशल-क्षेम पूछते, इलाज के लिए निर्देश देते, अपने हाथों से दवा खिलाते, सिर दबाते। हमारी मां दवा से बचतीं और बहुत टालती रहती थीं। अक्सर तकलीफ तो दबाये रखतीं। कहतीं–"अब मैं अच्छी हूं।" मियां उन्हें दवा लेने के लिए तैयार करते रहते और यह भी कहते कि हमारी बड़ी बी को तो दवा खाने से नहीं, केवल दवा-घर में आने और एक नजर देखने से लाभ हो जाता है।

ओखला के बड़े मकान पर जब भी जाना होता तो अपनी पुरानी सेविका, जिसे 'बुआ' कहा जाता था, के पास कुशल-क्षेम पूछने के लिए मकान से बाहर उसके क्वार्टर पर अवश्य जाते। उनके यही गुण और मोहक भाव थे जिन्हें लोग अब भी स्मरण करते और रोते हैं।

ईद की नमाज़ मियां अक्सर जामिआ में ही पढ़ा करते थे, वहां सब नये-पुराने साथी थे। नमाज़ के पश्चात ईद मिलने का क्रम शुरू होता। प्रत्येक व्यक्ति गले मिलने का इच्छुक रहता और सबसे अधिक मियां स्वयं प्रत्येक को गले लगाने का प्रयत्न करते। कहने का मतलब यह कि बहुत जमघट होता – वृद्ध और दुर्बल व्यक्ति उन तक नहीं पहुंच पाते थे। एक व्यक्ति जो जामिआ के ड्राइवर थे और जो अब सेवानिवृत्त हो गये हैं, उस समय बहुत वृद्ध और कमजोर थे - शांत-भाव से दूर खड़े रहे। मियां ने दूर से उन्हें देखा, और लोगों को हटाते हुए उनकी ओर

बढ़े और कहने लगे – "ड्राइवर साहब ! हम से ईद न मिलेंगे।" यह कहकर उनको गले लगाया। यह प्रसंग ड्राइवर साहब अक्सर सुनाते हैं और जब सुनाते हैं तो उनकी आंखें आंसुओं से तर हो जाती हैं।

रशीद साहब, आबिद हुसैन साहब, मुजीब साहब, सैयदैन साहब, ज़ैदी साहब, ख्वाजा हमीद साहब, शफीक-उर-रहमान साहब आदि उनके निकट के मित्रों में से थे। वह अपने मित्रों की इच्छाओं का बहुत आदर करते थे। उन्हें मित्रों के संबंधों की बारीकी और नजाकत का सदा ध्यान रहता था –

खयाले-खातिर अहबाब[1] *चाहिए हरदम,*
'अनीस' ठेस न लग जाए आबगीनों[2] *को।*

रशीद साहब उनके चहेते और बेतकल्लुफ मित्र थे। उन्होंने मियां से लंदन जाते समय गुलाब लाने का अनुरोध किया था। उस पर लिखते हैं – "ज़ाकिर साहब लंदन से गुलाब लाये। जिसने सुना, विस्मित हुआ। लेकिन कोई यह तय न कर सका कि इसमें बेतुका कौन था – अनुरोध करने वाला अथवा लाने वाला? ज़ाकिर साहब से उनके सभी मित्रों ने बहुत आग्रह किया था कि वह लंदन के विशेषज्ञों से अपने स्वास्थ्य के विषय में अवश्य परामर्श करते आएं, जिसकी उन्हें अत्यधिक आवश्यकता थी। मुझे विशेष रूप से प्रसन्नता थी कि इस कार्य के विषय में ज़ाकिर साहब को अपना स्वास्थ्य ठीक रखने का अवसर मिल जायेगा और कुछ सप्ताह के लिए उन्हें यहां की अनंत व्यस्तताओं से मुक्ति मिल जायेगी। लेकिन हुआ यह कि वह किसी डाक्टर से परामर्श न कर सके और गुलाब ले आये।"

मियां के उपकुलपति के कार्यकाल में रशीद साहब को हृदय का दौरा पड़ा था। मियां अक्सर उन्हें देखने जाया करते थे। इस विषय में रशीद साहब लिखते हैं – "सभी कुशल-क्षेम पूछने वालों में उनका ढंग ही निराला था – बिल्कुल निजी – व्यक्तिगत जैसा कि ज़ाकिर साहब का हो सकता था। वह अकारण हंसते-बोलते कमरे में प्रवेश न करते, न धैर्य एवं सांत्वना के या मनोरंजन व तफरीह के घिसे-पिटे वाक्य बोलते। इलाज, डाक्टरों के आने-जाने या खाने-पीने के विषय में कोई बातचीत न करते, चेहरे को चिंताकुल न बनाते, न होने देते। बस आते और बिना संकोच, बनावट या दिखावे के चारपाई के निकट तख्त पर गाव तकिये की टेक लगाकर बैठ जाते – मानो कुशल-क्षेम पूछने नहीं, बल्कि सभी कार्यों से निवृत्त होकर भाग्यशाली होने और भाग्यशाली बनाने आये हों – बिल्कुल जैसे सामान्य स्थिति में आया करते थे। अधिक व्याकुल देखते तो तख्त छोड़कर चारपाई की पटरी पर बैठ जाते और मेरा हाथ अपनी हथेलियों में लेकर धीरे-धीरे दबाने लगते। एक भी शब्द मुंह से न बोलते, किंतु चेहरे से ऐसा प्रतीत होता जैसा आशा और स्वास्थ्य लाभ का शुभ

1. मित्र, 2. शीशा

समाचार दे रहे हों। इससे इस प्रकार सांत्वना मिलती जैसे कोई "ट्रंकुलाइजर' दिया गया हो। अल्लाह के जिस अच्छे बंदे को अपने रब का कलाम सुनकर रोग में आराम मिल जाता हो, और जिसने वध करने वालों के अपार समूह में अल्लाह और इस्लाम का खुलकर संकल्प लेकर शहादत प्राप्त करने का साहस दर्शाया हो, उसी की हथेली के स्पर्श में यह प्रभाव, गुण मिल सकता था।

मियां के हंसने-बोलने का ढंग बहुत प्रिय था। वह सदा ठहराव के साथ ऐसे साफ और मीठे लहजे में बोलते कि आप उनके बोल गिन सकते थे। कोई हंसी की बात होती तो मुस्करा देते, कभी कहकहे लगाते मैंने उन्हें नहीं देखा। वह भाव-शून्य व्यक्ति की भांति न थे। हंसमुख और विनोदप्रिय थे। बातचीत बहुत रोचक करते थे। उनके आनंददायक वाक्य लोगों को कंठस्थ हो जाते थे। बातचीत में कभी हृदय को चोट पहुंचाने वाला व्यंग्य लेशमात्र भी न होता। रहन-सहन, उठने-बैठने, मिलने-जुलने में बड़ा रख-रखाव था, गरिमा थी और सदा सभा-शिष्टाचार तथा पद और श्रेणी के अनुसार व्यवहार करते।

उनके व्यक्तित्व का विशेष गुण जो उनके मन-मस्तिष्क में व्याप्त था और जिसे जानने वाले कभी-कभी उनकी दुर्बलता समझते थे यह था कि वह किसी का हृदय नहीं दुखा सकते थे। बात चाहे छोटी हो या बड़ी उनकी इच्छा यह होती थी कि किसी का हृदय न दुखे, कोई शीशा न टूट जाए। किसी का हृदय दुखाना उनके निकट महापाप था –

मुबाश दर पे आजर-ओ-हरचः ख्वाही कुन,
कि दर शरीअत मा हीच अज़ीं गुनाहे-नेस्त।

–शेखसादी

अर्थात ऐसा न हो कि तुम किसी को तकलीफ और दुख देने के लिए पीछे पड़ आओ। उसके बिना जो करना है कर। हमारी शरीअत (आचार संहिता) में इससे बड़ा पाप और कोई नहीं है। वह जीवन भर – "दिल बदस्त आवर के हजे-अकबर अस्त" अर्थात "दिल से दूसरों की मदद करना बड़ा हज है" – इस असूल पर अमल करते रहे, और दो-चार नहीं, सैकड़ों और हजारों इंसानों के दिल की दवा बन गये। अक्सर उस भाग-दौड़ में अपने-आपको संकट में फंसा लेते। उन्हें अपने बिगड़े स्वास्थ्य के आधार पर नपा-तुला और विशेष प्रकार का भोजन करना चाहिये था, लेकिन वह दावतों में जाते तो इस विचार से कि मेजबान को ठेस न पहुंचे। व्यंजनों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते, और खाते जाते। एक बार बड़ी रोचक घटना हुई। स्वयं आकर सुनायी कि कहीं दावत पर गये थे। मेजबान को ज्ञात था कि मियां शक्कर का प्रयोग नहीं कर सकते। अतः उन्होंने मीठे में सकरीन इस्तेमाल की थी। जब मीठे की नौबत आयी मियां ने चखा तो बहुत कड़वा। मियां ने जैसे-तैसे बिना कुछ व्यक्त किये उसे समाप्त कर दिया। अब मेजबान आग्रह कर रहे हैं कि और लीजिए,

यह तो सकरीन से बना है, कोई हानि न होगी, और मियां उन्हें प्रसन्न करने के लिए स्वाद ले-लेकर खा रहे हैं। शायद ऐसा हुआ कि मीठा बनाने वाले ने सकरीन को भी शकर की मात्रा में डाल दिया जिससे वह कड़वा हो गया। घर आकर हंस-हंस कर यह घटना सुनायी। हम लोगों ने कहा कि आप छोड़ देते, न खाते, तो कहने लगे – "भई, तुम समझती नहीं हो, इस बेचारे को जिसने इतनी देख-रेख तथा प्रेम के साथ उसे तैयार कराया था, कितनी लज्जा उठानी पड़ती और यदि न कहता और कम खाता तब भी उसे खेद होता कि शायद पसंद नहीं आया। इसलिए मेरी आप लोगों को सलाह है कि खाना पकाने के पश्चात किसी अन्य को खिलाने से पूर्व उसे चख अवश्य लिया करो।"

एक बार राष्ट्रपति भवन में ही मियां की तबीयत खराब हो गयी। डाक्टरों ने एक सप्ताह के लिए पूर्ण विश्राम करने का परामर्श दिया। चलना-फिरना सब बंद। एक सप्ताह के पश्चात जब अनुमति दी गयी तो स्वयं डाक्टर साहब उन्हें लेकर नीचे उद्यान में गये और यह निश्चय हुआ कि कुछ चलेंगे, फिर बैठ जायेंगे, फिर चलेंगे और बैठ जायेंगे। इस प्रकार लौटते हुए भी बीच में कुछ देर बैठ जायेंगे। यह सब इसलिए था कि मियां हृदय-रोग से पीड़ित थे और डाक्टर चाहते थे कि सप्ताह भर विश्राम के पश्चात एकदम उन पर अधिक भार न पड़े। अतः कमरे से चले तो जहां कुर्सियां पड़ी थीं वहां डाक्टर साहब ने कहा – "बैठ जाइये"। लेकिन नहीं बैठे; कहा – "नहीं ठीक है।" डाक्टर साहब बेचारे अधिक आग्रह न कर सके। जहां तक टहलना तय हुआ था, वहां से लौटे तो फिर उन्हीं कुर्सियों के पास आये। फिर डाक्टर साहब ने इस बार तनिक अधिक आग्रह के साथ बैठने को कहा। कुछ देर तक खड़े रहे, फिर शेष मार्ग तय करके कमरे में आये। कमरे में आकर डाक्टर साहब ने बड़े आदर के साथ कहा कि आज पहली बार उठे थे, और आपने बीच में विश्राम भी नहीं लिया – चलते रहे। यद्यपि कुर्सियां इसी उद्देश्य से डाली गयी थीं। कहने लगे – "भई! आप सोचिए तो, मैं कैसे बैठता! वहां तीन कुर्सियां थीं और हम चार आदमी थे। किसी को तो खड़ा रहना ही पड़ता। मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि मैं बैठा हूं और एक व्यक्ति खड़ा रहे। उस समय मियां के साथ डाक्टर साहब, ए. डी. सी. तथा उद्यान के प्रभारी थे। डाक्टर साहब ने मियां के निधन के पश्चात हमें यह प्रसंग सुनाया।

उनकी यह दुर्बलता थी कि वह किसी को दुख में नहीं देख सकते थे। किसी के आंसू सहन नहीं कर सकते थे। अलीगढ़ के दिनों में छात्रों में यह प्रसिद्ध था कि ज़ाकिर साहब के सामने जाकर रो दो, तुम्हारा काम बन जायेगा। लड़के फटे-पुराने वस्त्र पहने रोनी सूरत बनाकर आते, कुछ तो सचमुच सहायता के पात्र होते और कुछ अपात्र भी लाभ उठा लेते।

मैंने कभी मियां की कथनी और करनी में अतर नहीं पाया। उन्होंने कभी किसी से ऐसी बात नहीं कही जिस पर उन्होंने स्वयं अमल न किया हो। उनमें उपदेशक का रूप बिल्कुल नहीं था। उपदेश बहुत कम देते थे। उनका व्यक्तित्व ही साकार उपदेश था। सदा उत्तम से उत्तमतर प्रयास मे लीन रहते थे। उन्होंने मेरी आटोग्राफ बुक में लिखा था – "जो काम इस योग्य है कि किया जाये, वह इस योग्य भी है कि भली-भांति किया जाये।" उनके इस कथन का समर्थन उनकी कथनी-करनी से सदा होता रहता था। वह हमसे अक्सर कहा करते थे कि आवश्यक नहीं बड़ी पुस्तक लिख डालो, या कोई बड़ा काम करो। काम जो भी हो काम है, उसका पूरा हक अदा किया जाना चाहिए। तुम्हारा काम ऐसा हो कि कोई उसमें दोष न निकाल सके। जो काम सीखो उसमें उत्कृष्टता प्राप्त करो, जैसे केवल एक व्यंजन तैयार करना सीखो तो ऐसा कि उसका कोई जवाब न हो। वास्तव में प्रत्येक अच्छी वस्तु में कमाल, उत्कृष्टता प्राप्त करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह संसार को उससे अच्छी दशा में छोड़े जैसा कि उसे जन्म के समय मिला था।'

मियां ने बड़ों के लिए जो कुछ लिखा उसे तो एक विशेष महत्व प्राप्त है, लेकिन उसके साथ-साथ उन्होंने बच्चों के लिए जो कहानियां या पाठ लिखे उनमें न केवल बच्चों के लिए बल्कि बडो के लिए भी बहुत गहन बातें निहित हैं। उनमें सत्यनिष्ठा, देशभक्ति, मैत्री, प्रेम, संस्कार और उत्तम आचरण के अच्छे उदाहरण विद्यमान हैं। यह वास्तविकता है कि लेखक की रचनाओं एवं लेखों में, पात्रों में स्वयं उसका व्यक्तित्व प्रतिबिंबित होता है। एक कहानी 'आखिरी कदम' में उन्होंने एक नेक इंसान का वर्णन किया है जो छिप-छिपकर लोगों की सहायता करता था। जो कुछ किसी को देता था, दूसरो को उसकी भनक न पडने देता था। स्वयं बहुत साधारण जीवन व्यतीत करता था। अपने ऊपर बहुत कम खर्च करता था। लोग उसे कंजूस समझते थे, और व्यंग्य करते थे जो उसके हृदय को अप्रिय लगते थे। लेकिन वह कुछ न कहता, बस अपने लेन-देन का हिसाब एक रजिस्टर में लिखता जाता। जब उसका अंतिम समय आया तो उसने सोचा कि लोगों ने जीवन भर उस पर बहुत व्यंग्य किया, अब रजिस्टर छोड़ जाऊंगा ताकि लोग उसे पढ़कर लज्जित हों। लेकिन दूसरे क्षण जो उसे विचार आया, उसे उन्हीं के शब्दों में सुनिये –

"अब वह समय आ पहुंचा जो सबके लिए आता है, और जिससे कोई भागकर बच नहीं सकता। चारपाई के पास ही बिस्तर पर वह नीली सुंदर पुस्तक 'हिसाबे-अमानत' (अमानत का हिसाब) रखी थी जिसे उसने अभी रोगावस्था में दो दिन पूर्व उठाकर पढ़ा था। कुछ क्षण उसकी ओर ध्यानपूर्वक देखा। आंखों से आंसू बहने लगे, ऐसे कि थमते ही न थे। पुस्तक की ओर हाथ बढ़ाकर उसे उठाना चाहा, कई बार प्रयत्न करने पर कठिनाई से उठाया। फिर कुछ चिंता में पड़ गया। वह महान क्षण और

यह तुच्छ विचार! उन्हें लज्जित कर तुझे क्या मिलेगा? तू अपना कर्म कर चला_ अपने काम से काम. . . मंजिल आ पहुंची। अंतिम समय क्यों पग विचलित हों? दोनों हाथों से पुस्तक थामी। हाथ थरथरा रहे थे, जैसे कोई भारी बोझ उठाया हो। बड़ी मुश्किल से तकिये पर से सिर भी कुछ उठाया और दुर्बल शरीर की सारी अंतिम शक्ति लगाकर पुस्तक को पास वाली बड़ी अंगीठी में फेंक दिया, जिसमें कोई ढाई बजे नौकर ने बहुत-से कोयले डाले थे और उसे सोता समझकर दूसरे कमरे में जाकर सो गया था। पुस्तक जलने लगी। उसकी दृष्टि उस पर जमी थी। जिल्द जलने में देर लगी, फिर अंदर के कागजों में आग लगी तो एक ज्वाला भड़की। उसके प्रकाश में उसके अधरों पर एक हल्की मुस्कान दिखाई पड़ी और मुख पर एक अद्भुत-सा संतोष! उधर मोअज़्ज़िन (अजान पढ़ने वाला, बांग देने वाला) ने 'अशहदु अन्ना मुहम्मदर्रसूलल्लाह' (निःसंदेह मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं – संदेश-वाहक) कहा और नेकियों के इस काफिले के सरदार की पैगंबरी की घोषणा के साथ उसके अनुयायियों के इस सद्मार्ग पर चलने वाले ने सदैव के लिए आंखें मूंद लीं।"

इसी प्रकार 'अंधा घोड़ा' कहानी, जहां पशुओं के साथ सद्व्यवहार की प्रेरणा देती है, वहीं धार्मिक सहिष्णुता और इंसानी भाईचारे का स्मरण भी कराती है। इस कहानी का एक अंश सुनिये –

"अब सुनो! उस आदिल आबाद नगर में एक विशाल मस्जिद थी और एक विशाल मंदिर। उनमें नेक मुसलमान और हिंदू आकर अपनी-अपनी रीति से अल्लाह का नाम लेते थे और उसका स्मरण करते थे। उसी मंदिर और मस्जिद के मध्य एक बहुत ऊंचा मकान था, जिसके बीच में एक बड़ा-सा कमरा था। उस कमरे में एक बहुत बड़ा घंटा लटका था जिसमें एक लंबी-सी रस्सी बंधी थी। उस घर का द्वार सदा खुला रहता था। आदिल आबाद नगर में जब कोई किसी पर अत्याचार करता, किसी का माल दबा लेता था तो वह उस घर में जाता, रस्सी पकड़कर खींचता तो यह घंटा इतने जोर से बजता कि सारे नगर को खबर हो जाती। घंटे के बजते ही नगर के पांच अच्छे-अच्छे हिंदू-मुसलमान वहां आ जाते और फरियादी की फरियाद सुनकर उसका प्रबंध करते।"

उनकी प्रसिद्ध कहानी 'अब्बू खां की बकरी' स्वतंत्रता की पवित्र तथा स्वाभाविक भावना का प्रतिनिधित्व करती है, और लिखी भी उसी समय में गयी थी जब हिंदुस्तान स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रहा था। अब्बू खां को बकरियां पालने में बहुत रुचि थी। वह बड़े प्यार से बकरियां पालते। लेकिन दुर्भाग्य से प्रत्येक बकरी कुछ समय के पश्चात ही रस्सी तुड़ाकर भाग जाती। इस कहानी में जिस बकरी का वर्णन है उसका नाम चांदनी था। वह स्वतंत्रता की भावना से परिपूर्ण थी। अब्बू खां ने उसके लिए हर प्रकार की सुख-सुविधा का सामान उपलब्ध करा रखा था और उसकी सुरक्षा का

भी पूर्ण प्रबंध था लेकिन उनमें से कोई भी वस्तु चांदनी को स्वतंत्रता की लगन से रोक न सकी। एक दिन जब अब्बू खां खिड़की बंद करना भूल गये, वह रात में रस्सी तुड़ाकर पर्वत पर भाग गयी जहां उसका सामना भेड़िये से हो गया – यह न समझिये कि चांदनी अपनी सामर्थ्य को नहीं समझती थी या कि भेड़िये की शक्ति का उसे अंदाजा न था। वह भली-भांति जानती थी कि बकरियां भेड़िये को नहीं मार सकतीं। वह तो केवल यह चाहती थी कि अपनी सामर्थ्य के अनुकूल सामना करे। हार-जीत पर अपना अधिकार नहीं। वह अल्लाह के हाथ में है, सामना करना अनिवार्य है। इस प्रकार चांदनी रात भर लड़ती रही और अंत में तारे एक-एक करके लुप्त हो गये। चांदनी ने अंतिम समय में अपनी शक्ति दुगनी कर दी। भेड़िया भी तंग आ गया था कि सुदूर एक प्रकाश दिखाई पड़ा। एक मुर्गे ने कहीं बांग दी। नीचे बस्ती में मस्जिद से अज़ान की आवाज आयी। चांदनी ने दिल में कहा – "अल्लाह तेरा शुक्र है मैंने सामर्थ्य-भर सामना किया, अब तेरी इच्छा।" मोअज़्ज़िन ने अंतिम बार 'अल्लाहो-अकबर' (अल्लाह बहुत बड़ा है) कहा कि चांदनी निष्प्राण धरती पर गिर पड़ी। उसका सफेद बालों का वस्त्र रक्त से लाल हो गया, भेड़िये ने उसे दबोच लिया और खा गया। वृक्ष के ऊपर पक्षी बैठे देख रहे थे। उनमें इस बात पर विवाद हो रहा था कि विजय किसकी हुई। सब कहते थे कि भेड़िया विजयी हुआ। एक वृद्ध-सा पक्षी है, वह साग्रहँ कहता है कि चांदनी जीती है।

जीवन-भर मियां के उत्तरदायित्व इस प्रकार के रहे कि उन्हें अक्सर भाषण देने पड़ते थे। होना यह चाहिये था कि अधिक भाषण देते-देते उन्हें अभ्यास-सा हो जाता। लेकिन विचित्र बात थी कि वह भाषण देने से घबराते थे और जहां तक होता टालते रहते। लेकिन यदि किसी प्रकार यह संकट न टलता तो अंतिम समय में तैयार करते। उन्होंने महत्वपूर्ण भाषण बिल्कुल अंतिम समय में लिखे, यहां तक कि उन पर पुनर्दृष्टि डालने का अवसर भी न मिलता। इसके बावजूद भाषण में इतना आकर्षण और प्रभाव होता कि हृदय मुग्ध हो जाता – प्रत्येक शब्द हृदयंगम होता जाता – 'किसी की आंख में जादू, तेरी जबान में है', को चरितार्थ करने की बात उनमें थी जिसने उन्हें सुना है वह कहते हैं – "मियां भाषण नहीं देते थे, जादू करते थे।" यह प्रभाव इस कारण था कि उनकी बात में सच्चाई, निष्कपटता होती। वह वही बात कहते जिस पर अमल कर चुके होते। कभी-कभी तो भाषण करते-करते स्वयं रुआंसे-से हो जाते और सभा के लोगों की आंखें भी सजल हो जातीं। उनके भाषण में एक अच्छे शिक्षक के दिल की आवाज थी। भाषण का एक उदाहरण देखिये –

"हमारे देश को हमारी गरदनों से बहते रक्त की आवश्यकता नहीं, बल्कि हमारे माथे के पसीने की बारहमासी बहने वाली नदी की अपेक्षा है। हमारा भविष्य कृषक की झोंपड़ी, कारीगर की धुएं से काली छत और गांव की पाठशाला के फूस के छप्पर तले बन और बिगड़ सकता है। राजनीतिक विवादों, कांफ्रेंसों, और कांग्रेसियों

में कल एवं परसों के प्रसंगों का निर्णय हो सकता है। लेकिन जिन स्थानों का नाम मैंने लिया उनमें सदियों तक के लिए हमारे भाग्य का निर्णय होगा, और उन स्थानों का काम धैर्य चाहता है और उत्साह! इसमें थकावट भी अधिक है और सम्मान भी कम होता है। फल भी शीघ्र नहीं निकलता। हां, यदि कोई देर तक धैर्य रख सके तो फल भी स्वादिष्ट मिलता है।"

मियां अपने बुजुर्गों तथा अध्यापकों का बहुत आदर करते थे; गांधी जी, हकीम अजमल खां का नाम अति आदरपूर्वक लेते थे, और कहते थे कि इन दोनो महानुभावों ने मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। हकीम अजमल खां के विषय में उन्होंने कहा –

"हकीम अजमल खां उन बड़ों में थे जो निकट से और बडे हो जाते हैं। दूर से देखने वाले जिनका सम्मान करते हैं, और निकट से देखने वाले उन पर मोहित हो जाते हैं। संसार में बड़े से बड़े मरने वाले मर जाते है। जबकि उनका संबध केवल एक नस्ल-जाति से है, लेकिन भूत और भविष्य दोनों मे संबंध रखने वाले नहीं मरते। और अजमल खां उन्ही न मरने वाले महानुभावों में से है।"

अध्यापक के आदर का प्रसग एक व्यक्ति ने जो आगरा विश्वविद्यालय से संबंध रखते थे, अपनी आंखों देखा इस प्रकार सुनाया –

"अलीगढ़ के उपकुलपति के कार्यकाल में किसी शैक्षिक कार्य से मियां का आगरा जाना हुआ। आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति की इच्छानुसार वह उपकुलपति के साथ कक्षाओं का निरीक्षण करने निकले। एक कक्षा में प्रवेश किया तो देखा जो मौलाना लेक्चर दे रहे थे वह मियां के अध्यापक रह चुके थे, जिनसे मिले एक अरसा हो गया था और उन्हें खयाल भी न था कि वह भी यहां होंगे। प्रवेश किया तो उन पर दृष्टि पड़ी। मौलाना लेक्चर में व्यस्त थे। मियां उन्हें देखकर पसीना-पसीना हो गये। मौलाना के सामने हाथ जोड़कर क्षमा मांगने लगे कि मुझे तनिक भी भान न था कि आप यहां विराजमान हैं, वरना मेरी मजाल न थी कि आपकी कक्षा की ओर निरीक्षण के उद्देश्य से रुख करूं। मौलाना ने बहुत तसल्ली दी, लेकिन उनकी लज्जा समाप्त होने को नहीं आ रही थी।"

मियां को सूफी-संतों के प्रति बहुत श्रद्धा थी। सूफी मत का उनका गहन अध्ययन था। एक महानुभाव आज़ाद सुबहानी बड़े विद्वान सूफी थे। मियां उनकी विद्वता के कायल थे। उनका अत्यधिक सम्मान करते थे और उन्हें मित्रवत रखते थे। उनका दरवेशों जैसा व्यावहार था। कभी घूमते-फिरते हमारे यहां भी आ जाते थे। मियां उनकी बहुत अधिक खातिर करते। उनके लिए तुरंत कपड़े सिलवाए जाते, उनकी हजामत बनवायी जाती। अपने हाथों से उनका सब काम करते। मौलाना महाविद्वान होने पर भी बड़े दिलचस्प व्यक्ति थे। मियां अक्सर उनके किस्से सुनाते। एक बार

मियां से कहने लगे – "ज़ाकिर साहब ! तमाम उम्र ज्ञान प्राप्त करते बीत गयी, दर्शन चाट डाला, लेकिन एक बात का उत्तर नही मिलता; जब पत्नी पूछती है कि जब दरवेशी फकीरी ही करनी थी तो फिर विवाह क्यों किया ? उस समय हमारा सारा-का-सारा ज्ञान धरे का धरा रह जाता है, और बंदे के पास कोई उत्तर नहीं होता।" एक बार एक प्रसंग सुनाया। शायद खिलाफत के दिनों की बात है, जब खिलाफत आन्दोलन जोरों पर था। मिया भी उसके सक्रिय सदस्य थे। मौलाना आजाद सुबहानी से कहीं भाषण देने का अनुरोध किया जाता तो पूछते – "भई। मैं तीन प्रकार के भाषण दे सकता हूं : (1) जो आप शांत मन से सुन सकते है, (2) जो रक्त में कुछ उत्तेजना, गर्मी उत्पन्न करता है, (3) जो आग लगा देता है। जो तुम पसंद करो, वहीं करूं।" मियां कहते कि आग लगाना तो ठीक नहीं है, आप तो नं. 1, या 2 पर ही बस कर दें।

प्राचीन काल के महापुरुषों, और धर्मात्माओं के वृत्तांत तथा कहानिया वह अक्सर हमें सुनाते। एक बार मैंने पूछा कि मियां यह जो कहा जाता है कि सिद्ध पुरुषों में अल्लाह कुछ ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न कर देता है कि यदि वे आत्मविस्मृति की दशा में किसी पर दृष्टिपात कर दें तो हृदय बदल जाता है और उस दशा को वह भी वैसा ही अनुभव करने लगता है। क्या यह सच है ? कहने लगे कि शायद सच ही है। इसलिए कि मेरी यह दशा एक बार हो चुकी है। ऐसा हुआ कि एक बार मौलाना आज़ाद सुबहानी बातचीत करते-करते एक दम शांत हो गये और कुछ क्षणों तक मेरी आखों में आंखें डालकर देखते रहे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मेरे शरीर से विद्युत की एक तरग निकल गयी, लेकिन ऐसा केवल एक बार हुआ। मैंने उनसे इसका वर्णन किया। फिर उन्होंने बिठाकर कई बार ध्यान दिया, लेकिन असफल रहे।

मियां इंसान से कभी निराश नहीं होते थे। वह बड़ी-बडी त्रुटियों को अनदेखा कर देते थे, और बुरे से बुरे व्यक्ति के सुधार की आशा उनके हृदय में बनी रहती थी। वह स्वयं लिखते हैं – "मनुष्य, मनुष्यों के विषय में अच्छी से अच्छी धारणा रखे, और चाहे प्रतिदिन धोखा खाए, प्रतिदिन नये सिरे से मनुष्य की नेकदिली पर, सज्जनता पर विश्वास करे, और बुद्धिमानों तथा मूर्खों को, चूंकि दोनों ही भटकते हैं, क्षमा करे।"

वह प्रत्येक व्यक्ति को आदर और प्रेम का अधिकारी समझते, प्रत्येक धर्म व जाति के लोग उनसे मिलते और उनके व्यवहार तथा प्रेम में कोई अंतर न देखते। एक धर्मपरायण व्यक्ति होने के बावजूद उन्होंने इंसान को केवल इंसान के रूप में देखा। उसे हिंदू और मुसलमान के वर्गो में कभी नहीं बांटा। उनकी दानशीलता सर्वसुलभ थी, हर व्यक्ति उससे लाभान्वित हो सकता था। सैयदैन के शब्दों में – "वे लोग भूल करते हैं जो इस सेवा-भाव को सीमित करके मुसलमानों के इस्लामी

तथा पैगंबरी-दायित्व का सीमाकरण करना चाहते हैं। उनके कर्म एवं सिद्धांत का स्रोत कुरआन की यह आयत है कि तुममें से एक ऐसी जाति होनी चाहिए जो लोगों को भलाई की ओर बुलाये।"

अपने देश में सांप्रदायिकता के बढ़ते हुए तूफान को देखकर उनका दिल खून के आंसू रोता था जिसे वह अक्सर अपने भाषणों में प्रकट करते थे। किसी विद्यापीठ के विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा –

"जब जाति, धर्म-भाषा के अंतर से हमारा देश टुकड़े-टुकड़े दिखाई देता है, जिस देश में स्टेशनों पर मुसलमान पानी और हिंदू पानी मिलता है, जिस देश में विभिन्न प्रकार की जातियां बसी हैं, जहां बिल्कुल भिन्न प्रकार की संस्कृतियां साथ-साथ प्रचलित हैं, जहां एक का सच दूसरे का झूठ है, जहां मूर्ति-पूजक और मूर्ति-भंजक को प्रकृति ने साथ साथ सुख-दुख भोगने के लिए साथ जीने, साथ मरने के लिए एकत्रित कर रखा है, इस देश में इस प्रकार मिलकर काम करने की आशा करना थोड़ा मुश्किल है, लेकिन मन यही कहता है कि कुछ दिन और धक्के खाने के उपरांत इस देश के युवक देश-सेवा के लिए एक-हृदय हो जायेंगे। अतः मेरी यह मान्यता है कि भारत के भाग्य में भगवान ने यह बात रखी है कि यहां बिल्कुल भिन्न प्रकार के मानवीय नमूने एक-दूसरे से मिलकर एक ऐसा आदम (मानव) तैयार करें जो सभ्यता एवं संस्कृति की नूतन संरचना कर सके। भगवान के इस प्रयोग और इच्छा में उसकी सहायता करना तुम्हारा काम है, और इस सहायता के लिए अपने आपको भला मनुष्य बनाना, और अपने हृदय को ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त करना अनिवार्य है।"

सन् 1947 के दंगे उनकी आंखों के सामने हुए। वह स्वयं जालधर में इसका निशाना बने। उन परिस्थितियों को देखकर उनका हृदय तड़प उठा और लगभग स्वतंत्रता के दो महीने बाद आकाशवाणी पर उनके अधरों से यह करुणार्द्र वाणी फूट पड़ी –

"अपनी मानवता बचाओ। अपनी जाति के सभ्य जीवन के अधिकार नष्ट न होने दो। सभ्यता, मानवता, और सज्जनता की वह सकल संपदा जो हमने दासता की घटाटोप रात में घृणा की अग्नि से, स्वार्थ के तूफान से सुरक्षित निकाली थी उसे स्वतंत्रता की पौ फटते समय मिट्टी में मिलाते हो? ऐसा न करो। उसे बचाओ और संकल्प लो कि अपने जीवन को प्यार से उस काम में खपा दोगे जिसका उत्तरदायित्व स्वतंत्रता ने तुम्हारे कंधों पर रखा है। स्मरण रहे इस काम को घृणा की गंदगी में सने हुए हाथों और दिलों से कभी संपन्न नहीं किया जा सकता। इसके लिए आवश्यकता है प्रेम की, विश्वास और भरोसे की।"

आयु के अंतिम चरण में वर्षों से मियां को रात में नींद कम आती थी। कभी-कभी

तो सारी रात जागते बीत जाती थी और पलक तक न झपकती। पुस्तकें पढ़ते रहते। पवित्र कुरआन पढ़ते, शेष समय नमाज़ों में व्यतीत करते। उनके जीवन का यह रूप दुनिया वालों को तो क्या घर वालों से भी काफी सीमा तक गुप्त था। वह कभी अपनी इबादत (साधना, पूजा) अथवा पुण्य प्रकट न करते, और अधिकांशतः एकांत में अपने सच्चे उपास्य अल्लाह से लौ लगाते। कौन यह अनुमान कर सकता था कि ऐसा शोभायमान व्यक्ति जो चित्रकला, संगीत और साहित्य में उदात्त रुचि रखता हो, उसका आध्यात्मिक एकांतवास ईश्वरीय ज्योति से ज्योतिर्मान रहता होगा। उनकी आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता वह थी जो इंसानों से संबंध जोड़ती है, तोड़ती नहीं। वह अल्लाह का दर्शन अल्लाह की सृष्टि में निहारते थे और उनके कथनानुसार संसार से पृथक होकर अपना स्वर्ग पक्का करने वाले न थे। वह ऐसे स्वर्ग की खोज करने वाले थे जो सबसे लिए हो। उनका प्रयत्न तो रहता था कि उनकी इबादत करने का रहस्य किसी को ज्ञात न हो, और शायद मुझे भी ज्ञात न होता, लेकिन एक बार उन्होंने मुझसे एक ऐसी टोपी सीने को कहा जो माथे को छिपा सके। यह विचित्र अनुरोध शायद इसलिए था कि सजदों (नमाज़ पढ़ते समय धरती पर माथा टेकना) के निशान उनका रहस्य प्रकट न कर दें। मैंने उस समय ध्यान न दिया, लेकिन बाद में उसका अर्थ स्पष्ट होने लगा।

उन्हें अल्लाह पर विश्वास था। अल्लाह की मर्जी पर राजी रहने को उन्होंने अपना दूसरा स्वभाव बना लिया था। एक बार अपने गुरु का आदेश हुआ, एक दुआ (प्रार्थना) भी मुझे बतायी थी, उसके शब्द कम-अधिक ये थे – "ऐ अल्लाह! अपनी मर्जी बता दे, अपनी मर्जी पर चला दे, और अपनी मर्जी पर राजी हो जा।" मुझे विश्वास है कि वह दुआ करते होंगे तो उनकी दुआ यही होती होगी क्योंकि यह बात उनके सकल जीवन में रची-बसी दृष्टिगोचर होती है।

मैं जब भी पवित्र कुरआन पढ़ती हूं, मुझे मियां याद आते हैं। पवित्र कुरआन का पाठ करना उन्हें बहुत रुचता था। कई वर्ष हुए अरब से मियां को पवित्र कुरआन के रिकार्ड उपहार में मिले थे। तब से उनका नित्य कर्म था कि प्रतिदिन रात में कार्यों से मुक्त होकर ये रिकार्ड सुना करते थे। किसी कठिनाई में हों, या कोई शारीरिक रोग हो तो कुरआन सुनकर उन्हें सांत्वना मिल जाया करती थी। कुछ आयतों को पढ़ते या सुनते समय रुआंसे हो जाया करते थे। हमें बड़ा आश्चर्य होता क्योंकि मियां कोई दुर्बल हृदय के व्यक्ति न थे। अल्लाह ने उन्हें धैर्य और सहनशीलता की अत्यधिक शक्ति प्रदान की थी, और अक्सर ऐसे अवसरों पर जब लोग फूटफूट कर रोते हैं मैंने उन्हें अति दृढ़ पाया। मुझे स्मरण है जब मेरी छोटी बहन रीहाना, जिसकी अवस्था चार साल की थी, का अचानक देहांत हो गया तो मियां जामिआ के प्राइमरी स्कूल के बच्चों का परीक्षा-फल सुना रहे थे। मैं उस समय छह-सात वर्ष की रही हूंगी। वह घटना मेरे मस्तिष्क में उसी प्रकार अब तक सुरक्षित है। उन

दिनों जामिआ में यह प्रथा थी कि जामिआ के उपकुलपति (अर्थात मियां) परीक्षा-फल सुनाते थे और सफल होने वाले विद्यार्थियों को कुछ पुरस्कार तथा बड़े-बड़े बताशे बांटे जाते थे। मैं भी उसमें सम्मिलित थी और अपने हिस्से के बताशे ले चुकी थी। परीक्षा-फल सुनाया जा रहा था कि सहसा मैंने देखा कि किसी व्यक्ति ने चुपके से आकर मियां के कान में कुछ कहा जिससे मियां के चेहरे का रंग बदल गया। लेकिन परीक्षा-फल की कार्रवाई जारी रही। थोड़ी देर में जलसा समाप्त हो गया। मियां घर चले गये और मुझे एक अध्यापक अपने साथ अपने घर ले गये। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि रीहाना इस संसार से चली गयी थी। वह घर की सबसे छोटी बच्ची थी। संभवतः सब लोग, विशेषकर मियां, उससे अत्यधिक प्यार करते थे। यह वही रुकय्या रीहाना है जिसके उपनाम से मियां बच्चों की कहानियां लिखा करते थे। इस नाजुक मौके पर मियां अल्लाह की आज्ञा के सामने समर्पण की साकार प्रतिमा दृष्टिगोचर होते थे। वह दृश्य मैं आज तक नहीं भूल सकी हूं।

अंत में एक महान, लेकिन सरल व्यक्ति का चित्रांकन करने का प्रयत्न इस स्वीकृति के साथ करना चाहूंगी कि इस महामानव के जीवन के विस्तार तथा सौंदर्य का वर्णन न कोई समर्थ लेखक कर सकता है और न उसमें कोई अधिकारी लेखक ऐसे रंग भर सकता है, जिसमें पूर्ण सुंदरता और भव्यता उभर सके। 'मीर' ने मानो ऐसे ही इंसानों की ओर से यह शेर कहा था –

मत सहल हमें जानो, फिरता है फलक बरसों,
तब खाक के परदे से, इंसान निकलते हैं।